शोषण-मुक्ति
और
नव समाज

•

लेखक
अप्पासाहब पटवर्धन

अनुवादक
लक्ष्मण नारायण गर्दे

o

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी

प्रकाशक :
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री, अखिल भारत सर्व सेवा-संघ,
वर्धा (बम्बई-राज्य)

पहली बार : ५,०००
फरवरी, १९५९
मूल्य : बासठ नये पैसे
(दस आना)

मुद्रक :
ओमप्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
वाराणसी (बनारस) ५४६३–१५

आशीर्वाद

अप्पा साहब ने यह पुस्तक ग्रामदान प्रवेशिका के तौर पर लिखी है। पर लिखने का ढौल ऐसा है कि उससे सर्वोदय के अर्थशास्त्र का एक छोटा सा प्रबन्ध ही बन गया है।

सर्वोदय के अर्थशास्त्र मे यह कल्पना नहीं होती कि प्रत्येक गाँव अपूर्ण है और सब गाँव मिलकर पूर्ण। सर्वोदय की कल्पना यह है कि प्रत्येक गाँव पूर्ण है और सब गाँव मिलकर परिपूर्ण हैं। पिता की थाली में समूचा लड्डू और छोटे बच्चे की थाली में आधा लड्डू हो, यह बात छोटा बच्चा नहीं मान सकता। पर पिता की थाली में बडा लड्डू हो और छोटे बच्चे की थाली में छोटा लड्डू हो, तो यह बात वह समझ सकता है और मान लेता है। बडी मूर्ति और छोटी मूर्ति का भेद भक्त को नहीं खलता। इसके विपरीत कभी कभी वह बडी मूर्ति की अपेक्षा छोटी मूर्ति ही अधिक पसद कर सकता है। पर बडी मूर्ति और उसका कोई टुकडा, इस प्रकार का भेद भक्ति शास्त्र में कभी स्वीकृत नहीं हो सकता। एक ही पुस्तक की कोई प्रति बडे टाइप में हो और कोई छोटे टाइप में, तो यह भेद अभेद के पेट मे समा जाता है और पाठक अपने नेत्रों की ज्योति के अनुकूल इनमे से कोई भी प्रति अपने लिए उठा सकता है।

छोटे टाइप की पुस्तक चल तो सकती है, पर आँखों की आज की हालत मे छोटाई की भी कोई मर्यादा माननी पडेगी। उसी प्रकार छोटा गाँव पूर्ण और समग्र विश्व परिपूर्ण मानने पर भी आज के वैज्ञानिक युग में गाँव की छोटाई की भी कुछ मर्यादा निश्चित करनी होगी। छोटा गाँव पूर्ण होने के लिए आज के वैज्ञानिक युग की आवश्यकता के अनुसार पूर्ण होने योग्य उसका आकार होना चाहिए, यह बात स्पष्ट है। अर्थात् बहुत ही छोटे गाँव से काम नहीं चलेगा। जो गाँव बहुत छोटे छोटे हों,

ऐसे दो-चार मिलाकर एक गाँव मानना होगा। ग्रामदान के आरंभ काल में गाँव की एक छोटी वारी भी यद्यपि हम ग्रामदान के तौर पर स्वीकार कर लेते हैं (और वह उचित भी है, अन्यथा ग्रामदान का उद्‌गम ही अवरुद्ध होगा), तथापि स्वयपूर्ण ग्राम-स्वराज्य की रचना करते हुए गाँव का आकार उसी ब्योंत का मानना होगा।

चीनी तत्त्वज्ञ लाओत्से की स्वयपूर्ण ग्राम की कल्पना यह है कि उस गाँव के लोग कभी बाहर नहीं गये, उन्हें बाहर जाने का कुछ काम ही न पडा। पर अनुमान से वे यह जानते थे कि पडोस में ऐसा ही दूसरा गाँव है। कारण रात में पडोस के गाँव के कुत्तों के भोंकने की आवाज उन्हें उस गाँव में सुनाई पडती थी, इससे यह अनुमान करना पडता था कि पडोस में कोई गाँव होगा। हम लोगों को आज यह कल्पना न जँचेगी। गाँव की स्वयपूर्णता के लिए गाँव का आकार उस ब्योंत का बना लेने पर भी दूसरे गाँव से—और दूसरे गाँव से ही नहीं, समूचे राष्ट्र के साथ तथा अन्य राष्ट्रों के साथ भी गाँव का सम्बन्ध मानना होगा। इस प्रकार पूर्ण कल्पना करने पर, कहने को ग्रामदान प्रवेशिका कहें, पर तो भी उसे व्यापक अर्थशास्त्रीय निबन्ध का स्वरूप प्राप्त होना अपरिहार्य है। अप्पा साहब की यह ग्रामदान प्रवेशिका उपरिनिर्दिष्ट अर्थ में व्यापक नहीं है। मूलभूत विचारणीय बातों की चर्चा करनेवाली पुस्तक होने से वह व्यापक हुई है। उसकी लबाई व्यापक नहीं, चौडाई व्यापक है।

व्यापक अर्थशास्त्र का चौडाई के सदृश लम्बाई में भी उतना ही व्यापक होना आवश्यक होता है, पर इतने से भी काम नहीं चलता। उसकी गहराई भी काफी होनी चाहिए। अर्थशास्त्र की गहराई परमार्थ में प्रवेश करती है। अर्थात् उसमें आध्यात्मिक मूल्यों की मीमासा करनी पडती है। इस पुस्तक में अप्पाजी ने गहराई छोड रखी है, पर उसे मानकर वे चले हैं।

साराश गहराई छोडकर, लम्बाई घटाकर ग्रामदानी गाँव के अर्थशास्त्र की चौडी व्यावहारिक चर्चा इसमें की गयी है। और अप्पाजी की

चिर अभ्यस्त अध्यापक पद्धति से विद्यार्थियों को समझाने के ढंग पर यह विवेचन किया गया है।

मैं इस पुस्तक के लिए प्रस्तावना लिखने अप्पाजी के लिहाज से नहीं प्रवृत्त हुआ, बल्कि समूचा रत्नागिरी जिला-मुझे उस जिले का जो कुछ दर्शन हुआ उससे जान पड़ा कि—ग्रामदानी जिला बन सकता है, और इसकी प्रेरणा वहाँ के लोगों में करने के लिए इस पुस्तक का उपयोग होगा, इस आशा से इसमें प्रवृत्त हुआ हूँ। इतनी लम्बी प्रस्तावना लिखने की बात मन में नहीं थी, पर नदियों की बाढ़ ने रास्ता रोक रखा, इससे आज भोर का यह शांत समय मिल गया और प्रस्तावना इस आकार को प्राप्त हुई।

जय जगत्! जय ग्रामदान!

प्रकाशी (पश्चिम खानदेश)
२-९-'५८

विनोबा

लेखक का निवेदन

इस पुस्तक में व्यक्त विचारों में अहिंसा अर्थात् करुणा के आधार पर निर्मित नव समाज स्थापित करने की शक्ति है और ये विचार समस्त जगत् के लिए समान हैं, ऐसी आशा है। यह एक 'अर्थशास्त्रीय प्रबन्ध'-सा बन गया है और मैं तो आर्थिक व्यवहार का 'क ख' तक नहीं जानता। तथापि अर्थशास्त्र में गहरी डुबकी लगाने का मैंने साहस किया है। कारण जो कुछ भी हो, अर्थशास्त्र है जीवन-शास्त्र का ही एक पहलू और जीवन-शास्त्र जाने बिना हम छुटकारा पा ही नहीं सकते।

मेरे ये विचार एक तरह से पुराने ही हैं। 'गाँव का गोकुल' और 'व्याज-बट्टा' इन पुस्तकों में ये विचार आ चुके हैं। पर उन्हें अधिक परिपक्व, सुसंगत और समग्र जीवन-सरणी के स्वरूप में उपस्थित करने की दृष्टि से मैं इस लेखन में प्रवृत्त हुआ।

विनोबा के शब्दों में यह पुस्तक ग्रामदान-प्रवेशिका के तौर पर लिखी गयी है। ग्रामदान के साथ ही फैक्टरी-दान की भी योजना इसमें है। इसी प्रकार इसमें जो ग्रामदान है, वह ग्रामदान का छोटे-से-छोटा रूप है। यह ग्रामदान की निराई है, बोआई-रोपाई नहीं, भुट्टे तो नहीं ही। भूमि का स्वामित्व, मालगुजारी और व्याज गाँव के अड़ोसी-पड़ोसियों के बीच विषमता, वैर और बिगाड़ के मूल हैं। इन्हें निराकर हटाये बिना, बिगाड़ वराये बिना, किसी तरह की बोआई-रोपाई, किसी प्रकार का ग्राम-संघटन, कैसा भी विधायक कार्यक्रम सफल न हो सकेगा। कुशल खेतिहर निराई से पहले बोआई नहीं करेगा। सुदक्ष ग्राम-सेवक को भी लघुतम ग्रामदान की निराई ही सबसे पहले हाथ में लेनी चाहिए। यह

बात हाल में ही मेरे ध्यान में आयी। इस मार्ग का अनुसरण करने से भरपूर फसल हाथ आयेगी, यह आत्म-विश्वास भी उत्पन्न हुआ।

इन विचारों को सम्पूर्ण तो नहीं ही, अन्तिम भी नहीं कह सकते। तथापि इन्हें प्रकट करने में मेरी दृष्टि साधना की है, समाज-शास्त्र अथवा अर्थशास्त्र की नहीं। ये विचार अपूर्ण हैं, तो भी इतने ही विचारों से अपने तथा समाज के जीवन की संशुद्धि साधन करना साधक का कर्तव्य है।

अनेक मित्रों से अनेक प्रसंगों में चर्चा भी की है। कई छोटे-बड़े मित्रों से फुटकर सूचनाएँ मिली हैं। माननीय मित्र श्री रा० कृ० पाटील ने अपने प्रगाढ़ अध्ययन के अनुरूप विस्तृत प्रस्तावना भी लिख दी। इससे इस प्रतिपादन को विशेष महत्त्व और गांभीर्य प्राप्त हुआ। विनोबा का आशीर्वाद इस पुस्तक के लिए प्रेरक रहा।

मेरी भूमिका साधक की है और श्री पाटील का समाहार उन्हींके शब्दों में 'प्लानिंग कमिशन के भूतपूर्व सदस्य' का याने प्रशासक का है। दृष्टि के इन भेदों से कुछ मतभेद भी उद्‌भूत हुए हैं, पर वे कुछ अंशों में मेरी भूमिका के पूरक भी हैं।

गोपुरी, २०-१-'५८

अप्पा पटवर्धन

अनुक्रम

: १ :

हेतु

१. सज्जनों का दुराचार

मनुष्य मूलतः सत्प्रवृत्त है, मांगल्य का भोक्ता है। संसार-यात्रा करते हुए विपत्तियों के आने पर सज्जन मनुष्य भी न करने योग्य कृत्य करने पर उद्यत होता है। पश्चात् इस दुष्प्रवृत्ति की बहुतों को आदत पड़ जाती है और आपत्काल न होते हुए भी वे तरह-तरह के दुष्कर्म करते देख पड़ते हैं। मूलतः निर्मल और चमकदार धातुपात्र से काम लेते-लेते जैसे वह खराब हो जाता और काला पड़ जाता है, वैसे ही मूलतः निष्पाप मनुष्य भी दुष्ट बन जाता है। परन्तु पात्रों में वह चमक फिर से लाना जैसे बहुत कष्टसाध्य नहीं होता, वैसे ही मनुष्य का सहज सौजन्य अच्छी शिक्षा और रचना से पुनरुज्ज्वल किया जा सकता है। सन्त विनोबा आज यही काम कर रहे हैं।

विनोबा भूदान, ग्रामदान जैसे कार्यक्रम अभेद की उच्च भूमिका से सामने रखते हैं और भेद की भूमिका पर रहनेवाले सामान्य मनुष्य उनका उपदेश आदर के साथ सुनते हैं; पर वह उपदेश उन्हें व्यवहार्य नहीं लगता। विनोबा जिस आध्यात्मिक स्तर से अपनी बात कहते हैं, वह सामान्य व्यवहार के स्तर पर भी किस प्रकार अनिवार्य और हितकर है—यह सामान्य जनों को समझा देने की आवश्यकता है। इस पुस्तिका के द्वारा मेरा यही प्रयत्न है।

अहिंसक समाज रचना का ध्येय भला किसको प्रिय न होगा ? समाज यदि अहिंसक न हो, तो वह समाज ही नहीं, उसे मनुष्यों की एक भीड कहना होगा। शुद्ध व्यवहार के समुचित नियम बनाकर उन्हें सचाई के साथ अमल में लाने से मनुष्य की अन्याय की ओर प्रवृत्ति नष्ट होगी और अहिंसक समाज-रचना सिद्ध होगी। बम्बई के निवासी भीड होने पर धक्कमधक्का नहीं करते, बल्कि सीधी पंक्ति (क्यू) में खड़े हो जाते हैं, इससे उनका चलना-फिरना सबके लिए सुविधाजनक और सभ्यतायुक्त होता है—यह स्वानुभव से सभी जानते हैं। 'क्यू' बम्बईवालों का मानो स्वभाव ही बन गया है। बाहर से आया हुआ कोई नया मनुष्य भी बम्बई में खुशी से लाइन में खडा हो जाता है। अन्यत्र वही रेलकर आगे बढता है। ऐसा क्यों होता है ? 'क्यू' अच्छी चीज है, यह बात उसे जँची हुई है, पर लोग उसका पालन करेंगे, इस बात का कोई भरोसा उसे अन्यत्र नहीं होता। अर्थात् योग्य रीति का ज्ञान हो और लोग भी उस रीति का पालन करेंगे, इस बात का विश्वास हो, ये दोनों बातें एकत्र होने से ही अहिंसक समाज-रचना बन सकेगी। 'क्यू' का अभ्यास अहिंसक समाज-रचना का ही नमूना है।

मान लीजिये, कोई जहाज डूब रहा है। उसके यात्रियों को बचाने के लिए कोई नौका आयी। अब यदि सभी यात्री एक-दूसरे को रेलते हुए नौका पर कूद पड़ें, तो अतिरिक्त बोझ से वह नौका ही उस जहाज से पहले डूब जायगी। पर यदि यात्री कायदे के साथ थोडी थोडी सख्या में उतरें, तो वह नौका कई खेपों में उन यात्रियों को किनारे पहुँचा सकेगी। कायदा या अनुशासन यही है कि योग्य संकेत का पालन किया जाय।

इस पुस्तिका में हमें सर्वोदय के केवल आर्थिक संकेतों का ही विचार करना है। सर्वोदय की दृष्टि से सामाजिक संकेतों का

भी बहुत महत्त्व है। उदाहरणार्थ, मानवी समता का स्वीकार और पालन आवश्यक है। परन्तु उसका ऊहापोह अभी नहीं करना है। अभी के इस अर्थप्रधान युग में आर्थिक संकेतों को बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है और इसी सम्बन्ध में मुझे जो विचार सूझे तथा महत्त्व के प्रतीत हुए, उन्हींको पाठकों के विचारार्थ यहाँ उपस्थित करना है।

२. निर्बन्ध और अनुनय

समाज-संघटन के सम्बन्ध में कुछ बातें निर्बन्ध के द्वारा अमल में लायी जानी चाहिए और कुछ अनुनय अर्थात् उपदेश, प्रार्थना, अनुरोध, प्रोत्साहन, लोक-शिक्षा इत्यादि के द्वारा। पर आचरण कर्ता की मर्जी पर ही छोड़ना चाहिए। परीक्षाओं के पाठ्यक्रमों में कुछ विषय आवश्यक और कुछ ऐच्छिक होते हैं। उसी प्रकार समाज-स्वास्थ्य के सम्बन्ध में भी कुछ बातों के लिए तो निर्बन्ध लगाये जायँ और कुछ बातें स्वेच्छा से करा लेने का प्रयत्न किया जाय। आवश्यक और ऐच्छिक, कम-से-कम आवश्यक और आवश्यक के अतिरिक्त अकरणात्मक और करणात्मक कर्तव्य-पालन और पर-उपकार, इन भेदों जैसा ही यह भेद है। प्रत्येक सच्ची बात हम अपने साथियों से कहें, ऐसा कोई निर्बन्ध नहीं हो सकता, पर जो कुछ हम उनसे कहें, वह झूठ न हो, यह अवश्य निर्बन्ध है। किसी यात्री को हम न लूटें, यह निर्बन्ध है, पर यात्रियों की मैं कितनी क्या सेवा करूँ, यह मेरी खुशी की बात है।

विनोबा ने देश और जगत् के सामने जो महान् विचार रखे हैं, उनमें कुछ ऐसी बातें हैं, जो निर्बन्ध का विषय बन सकती हैं। दूसरों के श्रम का अपहरण नहीं करना चाहिए, यह निर्बन्ध है। श्रमदान करना अनुनय का विषय है। भूमि पर किसीका अबाध

स्वामित्व न होना चाहिए, ऐसा निर्नन्ध होना जरूरी है। मैंने जो पैदावार की, उसमें से मैं उन लोगों को भी दूँ, जिन्हें उसकी आवश्यकता है, यह अनुनय है। शोषण न करना निर्नन्ध है, अपरिग्रह अनुनय है। निर्नन्ध नींव देना है, अनुनय उस पर भवन निर्माण है। अनुनय ही श्रेष्ठ और परिणामकारी मार्ग है। कारण निर्नन्ध भी कर्ता की सम्मति के बिना केवल बाहरी दबाव से पूर्ण यशस्वी नहीं हुआ करता। निज प्रेरणा में ही सच्ची शोभा और शक्ति है और यह स्वय प्रेरणा समझाने से, शिक्षा से और आचरण से ही उत्पन्न होगी। तथापि मनुष्य समाजनिष्ठ है, समाज के साथ घुला मिला, अत. उसकी प्रेरणाओं में स्वयप्रेरणा और परप्रेरणा का आत्यन्तिक भेद नहीं रहता। बहुतों की जो स्वय प्रेरणा होती है, वह अकेले एक-एक व्यक्ति के लिए निर्नन्ध बन जाती है। मेरी अपनी स्वय प्रेरणा भी मेरी एक वृत्ति का अन्य वृत्तियों पर निग्रह ही हुआ करता है। समझाने-बुझाने के लिए भी योग्य निर्नन्ध उपकारक ही होते हैं।

निर्नन्ध का प्रयोग दड का प्रयोग है, यह हम नहीं कहना चाहते। किन्तु मनुष्य के कर्तव्यों में भी हम यह बतलाना चाहते हैं कि तुरत करने योग्य और यथावकाश करने योग्य, कम-से-कम करने का और अतिरिक्त काम, आवश्यक और ऐच्छिक, कराकर छोड़ने योग्य और स्वेच्छा पर छोड़ने योग्य, ऐसा भेद अवश्य किया जाना चाहिए। (१) धरती जमीन पर कोई अपना स्वामित्व न बताये, उसका मूल्य अथवा उसका अश न माँगे और (२) मूलधन के अलावा ब्याज, खण्ड, भाड़ा डिविडेंड इत्यादि वसूल न करे। ये स्थूल सकेत अथवा निर्नन्ध हम सुझाना चाहते हैं। इन निर्नन्धों का पालन करके फिर यदि कोई मनुष्य समाज के प्रति स्वात्मार्पण करे, तो ऐसा करना श्रेयस्कर ही होगा और ऐसा करनेवाले धन्यवाद के पात्र होंगे। परन्तु उपर्युक्त निर्नन्धों को

तोड़नेवाले जिस प्रकार निषेध के पात्र होंगे, उस प्रकार स्वात्मार्पण न करनेवाले निषेध के पात्र नहीं होंगे। निर्बन्ध तोड़नेवाले पापी करार दिये जायँगे; अनुनय न माननेवालों को पुण्यलाभ न होगा, पर पाप भी नहीं लगेगा। निर्बन्ध-भंग का दोष कृत-दोष (सिन आफ कमिशन) है, अनुनय न माननेवाले का दोष अकृत कोटि का दोष (सिन आफ ओमिशन) है। निर्बन्ध आज्ञार्थ है, अनुनय विध्यर्थ है। निर्बन्ध और अनुनय के भेद का इतना विवेचन पर्याप्त है।

३. जीवन-शोधन

मनुष्य मूलतः पशु था। पशुओं जैसा ही उसका वर्ताव था। अब भी कुछ अंशों में वह पशु ही है। कुत्ते, बिलार जैसे आपस में बरतते हैं, वैसा ही मनुष्यों का वर्ताव है। धर्म की भावना या चेतना ही मनु य का विशेषत्व है। 'धर्मो हि तेषां अधिको विशेषः।' धर्म की यह भावना उसमें एकाएक नहीं उत्पन्न हुई। क्रम से धीरे-धीरे ही हुई है और अब भी इसकी पूर्णता नहीं हुई है। यह भावना और तदनुसार आचरण जैसे-जैसे होता जायगा, वैसे ही वैसे वह पशु से मनुष्य बनेगा। मनुष्य का निर्माण याने वटन सृष्टिकर्ता ने अमुक सहस्र वर्षों में पूर्ण किया हो, ऐसी कोई बात नहीं है। नव मानव और नव समाज नित्य ही बनता रहेगा। अहिंसक समाज-रचना मनुष्य का निर्माण ही है। पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर यात्रा बराबर जारी ही है। समाज-धर्म का अर्थात् न्याय, सदाचार आदि की भावना और उसका पालन जैसे-जैसे हम करते चलेंगे, वैसे-वैसे हम मनुष्य बनते चलेंगे।

४. अज्ञात पाप

आज तक हम लोगों से अज्ञात रूप में भी अनेक दोष होते

चले आये हैं। अज्ञान से होनेवाला दोष नैतिक दोष भले ही न हो, पर भौतिक दोष तो है ही, उसका परिणाम भी हमें भोगना ही पड़ता है। 'न जानते हुए यदि अग्नि पर पैर पड जाय, तो वह जलेगा नहीं, ऐसा तो कभी नहीं हो सकता।' जातिभेद और अस्पृश्यता में क्या दोष है, यह तो हम जानते ही न थे, बल्कि उसे धर्म जानकर हम पालते आये। पर इससे उसके जो दुष्परिणाम हैं, उनसे हम थोड़े ही बच सकते हैं? उसी प्रकार भूमि का स्वामित्व, ब्याज, खण्ड, भाडा डिविडेंड, लाभ इत्यादि के द्वारा हम लोग जो एक दूसरे का शोषण करते चले आये हैं, उसकी हमें कोई खबर नहीं थी। इन सब बातों को हम सहज स्वाभाविक समझते हुए करते चले आये। परिणाम यह हुआ कि समाज में वैषम्य और वैमनस्य, नैराश्य और विलासिता, आलस्य और दुर्व्यसन, कलह और युद्ध इत्यादि नाना प्रकार के अनिष्ट बढते गये और हम उनके कुफल पद-पद पर भोग रहे हैं। मानव-जाति में परस्पर कलह पराकाष्ठा तक पहुँचा है। राष्ट्र-राष्ट्र के बीच शीत युद्ध तो चल ही रहे हैं, पर इनके भी मूल में हमारे-आपके बीच, भाई-भाई के बीच, पड़ोसी-पड़ोसी के बीच जैसा व्यवहार चल रहा है, वह शीत युद्ध ही है, यह बात अभी तक हम लोगों के ध्यान में नहीं आयी थी। अब कुछ लोगों के ध्यान में आ गयी है। अतः उन लोगों का कर्तव्य है कि वे ये दोष दूसरों को भी दिखाकर सावधान कर दें। दोष दृष्टिगत होते ही दूर हो जायँ, ऐसा नहीं है। 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः। जानामि अधर्मं न च मे निवृत्तिः॥' अर्थात् धर्म क्या है, मैं समझता हूँ, पर मुझसे होता नहीं, अधर्म क्या है, यह भी समझता हूँ, पर वह मुझसे छूटता नहीं—यह सत्य है। तथापि धर्म का बोध हो और वह अपने आचरण में आ जाय, इन दोनों बातों के बीच प्रयत्न के लिए कुछ अल्पाधिक समय आवश्यक

होता है, इसी अर्थ में इसकी सत्यता है। धर्म पालन की ओर मनुष्य का आध्यात्मिक आकर्षण तो है ही, पर इसके सिवाय धर्मोल्लघन के भौतिक परिणाम भी उसे धर्म-पालन की ओर ढकेलते ले ही जाते हैं।

इसीलिए हमें यह विश्वास होता है कि गांधी-विनोबा की—अब तक के सभी सन्तों की भी—सीख और अपने वर्तमान व्यवहार में रहे हुए दोष यदि हम लोगों को अच्छी तरह समझा दें, तो विनोबा की भूदान-मूलक, ग्रामोद्योग प्रधान, अहिंसक क्रान्ति का स्वप्न साकार होना असभव नहीं है। ● ● ●

भूमि केवल उत्पादन का साधन नहीं है, वह परमात्मा की भक्ति का भी साधन है। मै स्वय इसका अनुभव प्राप्त कर चुका हूँ। ईश्वर भक्ति के जप, तप, ध्यान आदि जो साधन हैं, उन सबके द्वारा जितनी ईश्वर भक्ति होती है अर्थात् मनुष्य के विकार शमनार्थ इन साधनों से जितनी सहायता मिलती है, उससे अधिक सहायता भूमि पर परिश्रम करने और खुली हवा में कुदाल लेकर काम करने से होती है।

अत हरिजनों को मन्दिर प्रवेश न भी प्राप्त हो, तो एक बार काम चल सकता है, कारण ईश्वर के दर्शन करने के अन्य साधन भी हैं। पर भूमिहीनों के लिए भूमि की सेवा भगवान् की भक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है।

—विनोबा

: २ :

शोषण के प्रकार और इलाज

१. भूमि का स्वामित्व

भूमि का स्वामित्व शोषण का आद्य और मुख्य साधन है। ईश्वरनिर्मित भूमि जो खुली पड़ी थी, उसे मनुष्य ने छेका, हथियाया; दूसरों को उस भूमि पर पैर रखने की मनाही की।

मनुष्य पहले मृगयाजीवी था; पशुओं की तरह ही भूख लगने पर अपने भक्ष्य के लिए भटकता फिरता और कन्दमूल फल जैसे अनायास मिलनेवाले पदार्थ खाता था अथवा खरहा, हिरन, मुर्गा, भेड़-बकरी, भैंस जैसे स्थलचर; तीतर, कबूतर जैसे खेचर अथवा मछली-कछुए जैसे जलचर प्राणी जो जहाँ मिलते मार कर खा जाता था।

पीछे उसने मुर्गे, भेड़-बकरे, गाय-बैल, ऊँट आदि पशु-पक्षियों को पालतू बनाने की तरकीब ढूँढ़ निकाली और वह गोपाल-वृत्ति से जीने लगा। अपने पशुओं को चराना, जब आवश्यक हो, पालतू पशुओं को मारकर उनका मांस खा जाना और उनकी खालें ओढ़ना, एक जगह का चारा समाप्त होने पर अपने पशुओं को लेकर ऐसी जगह जाना जहाँ चारा मिले—इस प्रकार वह रहने लगा। इसी समय में उसने कुटुम्ब-रचना की और 'गोत्र' (अर्थात् गोवंश के रक्षक परिवार) बने।

और कुछ समय बाद उसने खेती की कला आविष्कृत की। खेती का आविष्कार होने पर ही मनुष्य एक जगह घर बनाकर

रहने लगा और अनेक कुटुम्बों के समूह बने। इस तरह ग्राम या गाँव बसे।

इसी अवस्था में पहले-पहल मनुष्य ने जमीन पर कब्जा करना आरम्भ किया। सभी मनुष्य एक साथ एक ही समय खेती करने लगे हों, यह बात नहीं। पहले कोई-कोई कुटुम्ब अकेले-दुकेले भूमि पर अधिकार जमाये, स्थिर होकर घर बनाकर रहने लगे। उनकी देखा-देखी और कुछ कुटुम्ब खेती की ओर झुकने लगे। सबसे पहले के खेतिहर कुटुम्बों ने चाहे जितनी जमीन छेक ली। इनके बाद जो आये, वे पहले से बसे हुए लोगों से छेड़ करने नहीं गये, क्योंकि दूसरी तरफ चाहे जितनी जमीन खाली पड़ी थी। इस कारण पहले के जबरदस्त लोगों से झगड़ा मोल लेने की कोई आवश्यकता नहीं थी। परन्तु इस प्रकार देखते-देखते सब जमीनें छिक गयीं और जो नये लोग आते, उन्हें खाली जमीनों का मिलना असम्भव हो गया। तब जमीन के लिए झगड़े शुरू हुए, मारकाट भी होने लगी। पर सामान्यतः पहले से आकर बसे हुए कुलीन और संघटित भू-स्वामियों से लड़ना-भिड़ना किसी अकेले-दुकेले नवागत मनुष्य के लिए बहुत कठिन था।

सब जमीनें इस प्रकार छिक जाने पर इन नवागतों के लिए यही एक उपाय अपरिहार्य रहा कि ये पहले के लोगों को राजी करके ही रहें। अतः कुछ गरीबों ने उन्हें नजराने देकर उनसे जमीनें खरीदीं और कुछ ने लगान देकर असामी बनकर रहना स्वीकार किया।

किसीने जमीन पहले से छेक ली, केवल इसी कारण से पीछे आनेवालों से पहलेवालों को जमीन की कीमत या लगान मिले, यह खुल्लमखुल्ला जोर-जबरदस्ती और शोषण ही था।

पहले राजतन्त्र के जमाने में यह मालकियत और जबरदस्ती गवारा हुई, पर अब लोकतन्त्र के इस जमाने में यह चीज

नहीं चल सकती, इसे कोई उचित तो मान ही नहीं सकता। राजतन्त्र में राजा सारी भूमि का स्वामी था और प्रजाजन उसके आश्रित थे। पर अब वह नाता टूट चुका। तथापि सार्वभौम राजा के स्थान में छोटे-छोटे असख्य जमींदार राजा बन ही गये। भूमि पर जिसका स्वामित्व, वह हुआ राजा, जिसके पास भूमि नहीं, वह हुआ रंक। ऐसे दो वर्गों का बन जाना ठीक नहीं। भूमि पर जब सबका ही अधिकार है, तब अबाधित अधिकार किसीका भी नहीं रह सकता। खाली जमीन की कीमत या लगान वसूल करना अब शोषण और जबरदस्ती ही समझी जायेगी। वह निषिद्ध है।

२. कष्टार्जित लगान

परती जमीन का लगान जबरदस्ती है, तो भी कमायी हुई जमीन का लगान कष्टार्जित लगान भी हो सकता है। परती जमीन टेढ़ी-मेढ़ी कँटीली और ऊसर थी। उसे साफ करना, मेंड बाँधना, समथर करना, पानी बाँधकर या कुँआ खोदकर जल पहुँचाने की व्यवस्था करना, उसे चौतरफा घेरना, पेड़ लगाकर उसकी रखवाली करना, पानी देना, खाद डालना इत्यादि कष्टसाध्य उपायों से उस जमीन की उपज बहुत बढ़ती है। इस प्रकार अपने कष्टों से जो कोई उस जमीन का उपजाऊपन बढ़ाता है, उसे यदि वह जमीन किसी दूसरे को सौंपने की कभी आवश्यकता पड़ी, तो वह दूसरा किसान पहले किसान को उस खेत की उपज का कुछ भाग लगान के तौर पर दे, यह न्यायोचित है। कारण उस जमीन की उपज उस दूसरे किसान के ही वर्तमान कष्ट का फल नहीं है। उसका कुछ भाग पहले किसान के पूर्वकृत परिश्रमों का फल है। वर्तमान श्रम का फल वर्तमान किसान को मिलना जैसे उचित है, वैसे ही पूर्व श्रमों का फल पूर्व के किसान को मिलना उचित ही है।

पर यह श्रमजन्य लगान स्थायी नहीं रह सकता, कुछ समय के लिए ही हो सकता है, यह स्पष्ट है। दस-बीस वर्ष श्रम करके मैंने एक बगीचा या वारी तैयार की, तो उस बगीचे या वारी का लगान मुझे और दस-बीस वर्ष मिलता रहे, यहाँ तक ठीक है; पर वह सदा मिलता रहे, यह न्याय्य न होगा। वेग के साथ चलनेवाली रेलगाड़ी इंजन के बन्द होने पर भी एकाध मील यों ही चली जा सकती है अथवा साइकिल एक फर्लांग चली जायगी, पर उससे अधिक नहीं। उसी प्रकार खेती-वारी या बगीचे के श्रमों का फल उन श्रमों के खत्म होने के बाद किसी अवधि तक ही प्राप्त हो सकता है, निरवधि नहीं।

आज की हालत यह है कि जमीन का जो लगान निश्चित होता है, वह प्रायः स्थायी होता है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। कारण जहाँ परती जमीन लगान पर लगती है, वहाँ कमायी हुई जमीन का लगान विशेष परिमाण में, पर स्थायी रूप से जारी रहे, ऐसा होना ही ठहरा। 'मेरी जमीन, तेरा श्रम, दोनों मिलकर उत्पादन हुआ; अतः पैदावार में आधा हिस्सा तेरा और आधा मेरा' यह सीधी-सादी न्यायोचित बात-सी लगती है। परंतु इस बात का प्रथम विधान याने 'मेरी जमीन' ही गलत होता है। 'भूमि भगवान् की; पहले के श्रम मेरे, वर्तमान श्रम तेरे,' यही सत्य स्थिति है।

३. निसर्ग की देन

इन संचित अथवा वर्तमान श्रमों के फल के अतिरिक्त, जमीन की पैदावार में निसर्ग की देन के रूप में भी कुछ अंश होता है। आम, कटहल, काजू, कोकम आदि, बिना जल बढ़नेवाले फल-वृक्षों के द्वारा प्राप्त निसर्ग की देन स्पष्ट ही देख पड़ती है। पर धान या गेहूँ के खेतों में अथवा नींबू-संतरे के बगीचे में भी

निसर्ग के दान का यह अंश रहता ही है। निसर्ग की यह देन सारे समाज के लिए होती है। इसीलिए सरकार उसे पोत के रूप में वसूल करती है। निसर्ग की देन पर समाज का अथवा सबका समान स्वामित्व है, यह सिद्धान्त मान लेने पर फिर कर के रूप में वह सरकार को मिले तो अथवा भूमि का यथाप्रमाण वितरण हो जाय और फिर जिसके पास जो जमीन है, उसकी निसर्गदत्त देन उसीके पास रह जाय, तो दोनों बातें समान ही हैं।

४. जमीन की खरीद

पर कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं कि हमारी जमीनें जबरदस्ती कब्जा की हुई नहीं, बल्कि अपने खून के पसीने से कमाया हुआ धन देकर खरीदी हुई हैं और हमें उनसे जो लगान मिलता है, वह सेविंग बैंक के ब्याज से भी कम है। यही रकम यदि हम बैंक में रखते, तो हमें उसका ब्याज तो बराबर निष्कंटक रूप से मिलता रहता। अपनी रकम हमने जमीन में लगायी, यह क्या हमने कोई अपराध किया ?

यह आपका अपराध भले ही न हो, पर हमारी आपकी भूल तो है ही। आपने उस जमीन की जो कीमत दी, वह उस जमीन को कमाने की ही कीमत नहीं थी, बल्कि उसमें परती जमीन को छेक रखने की कीमत भी शामिल थी। यह डकैती के माल की कीमत थी। आपकी खरीद की हुई जमीन की कमाई की कीमत आपको कुछ वर्ष उसके लगान के रूप में मिले, यह उचित है, पर जमीन छेकने की जो कीमत आपने दी, उसे देने में आपकी भूल हुई, उसे आगे सुधारना होगा।

५. पगड़ी

बम्बई के बहुत से किरायेदार अपनी किराये की कोठरी

दूसरे को देते-दिलाते हुए बीच ही में 'पगड़ी' लिया करते हैं। जमीन की इस खरीद का कुछ वैसा ही हिसाब है। उस कोठरी को आपने कुछ कुर्सियों, मेज और तसवीरों से सजाया हो या बिजली के लट्टू, पंखे आदि लगवाये हों, तो इन सामानों की कीमत लेना अनुचित नहीं है। पर पगड़ी लेना अनुचित है। इसी प्रकार भगवान् की खाली पड़ी हुई जमीन किसीने छेक रखी और यह छेक-रोक दूसरे को बेची, तो यह समुचित व्यवहार नहीं कहा जा सकता।

पहले राजा-महाराजा भी अपने राज्यों के प्रदेशों की ऐसी ही खरीद-बिक्री किया करते थे। उदाहरणार्थ, बम्बई पुर्तगाल के राजा ने इंग्लैण्ड के राजा को दहेज में दी थी। गोवा के पेडना महाल के ४५ गाँव मूलतः (?) सावंतवाडी के राजा के थे, उन्होंने इन्हें पुर्तगालियों को बेचा! उन दिनों राजाओं की ऐसी निरंकुश सत्ता थी। परन्तु अब जैसे राजसत्ता का लोप हुआ, वैसे ही भूमिसत्ता का भी लोप होना चाहिए। बड़े राज्य गये, वैसे ही अब छोटे राज्यों का भी (भूमि के मालिक = भूपति = राजा) अन्त होना चाहिए।

६. मनुष्य का मूलभूत भूमि-अधिकार

मनुष्य के कुछ ऐसे मूलभूत, जन्मसिद्ध अथवा अविभाज्य अधिकार हैं, जिन्हें छीनने या खरीदने का अन्य किसीको अधिकार नहीं है अथवा जिसे ऐसे जो अधिकार प्राप्त हैं, उन्हें अन्य किसीको दे डालने का भी कोई अधिकार नहीं है। ये सब अधिकार मानव-धर्म के भाग हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य की खरीद-बिक्री नहीं हो सकती, न कोई मनुष्य अपने आपको ही बेच सकता है। गुलामी के जमाने में ऐसा हो सकता था। धर्मराज ने द्रौपदी को जुए में दाँव पर रखा। बाप अपने बेटों को साहूकार के

हाथ बेच देता था। शर्त-बँधे मजूर भरती करने की प्रथा गुलामी की प्रथा का ही पर्याय था। इसीलिये यह प्रथा उठा दी गयी। राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी स्त्री को, पुत्र को और अन्त में अपने-आपको बेचा। यह मानवता का उल्लंघन था। इसी प्रकार बम्बई-पूना जैसी घनी बस्तीवाले नगरों में कोई अधिवासी अपने घर से सटाकर दूसरा घर उठाने का याने अपने लिए आवश्यक हवा और प्रकाश का हक दूसरे को न बेच सकता है, न दान ही कर सकता है। मनुष्य को आत्महत्या करने का जैसे कोई अधिकार नहीं है, वैसे ही अपने जीवन के मूलभूत साधन दे डालने या दूसरों के ऐसे साधन उनकी सम्मति से भी लेने का किसीको कोई अधिकार नहीं है।

मनुष्य के जीवन का वायु, जल, आकाश, प्रकाश आदि की भी अपेक्षा भूमि अधिक महत्त्व का साधन है। प्रत्येक मनुष्य को अपना पेट भरने के लिए आवश्यक भूमि पर अन्य सब मनुष्यों के बराबर अधिकार है। यह अधिकार अविभाज्य है। स्वराज्य जैसा प्रत्येक राष्ट्र का अबाध अधिकार है, वैसा ही अपने अंश की भूमि पर प्रत्येक व्यक्ति का अबाधित अधिकार है। महाराष्ट्र का राज्य अंग्रेजों को दे डालने का जैसे बाजीराव को कोई अधिकार नहीं था, वैसे ही अपनी जमीन किसी कारण से बेचकर अपने वंशजों को निर्वासित करने का मनुष्य को अधिकार नहीं है, न उस जमीन को खरीदने का किसीको अधिकार है; हड़पने का तो उससे भी अधिक नहीं। तात्पर्य, ईश्वरी योजना के अनुसार कोई मनुष्य भूमिहीन नहीं है, जैसे कोई वायु-रहित, प्रकाश-रहित नहीं। आज जो भूमिहीन कहलाते हैं, उनकी भूमि दूसरों ने हड़प ली है। भारत का राज्य अंग्रेजों ने हड़प लिया, इसीका यह लघु संस्करण है। ब्रिटिश साम्राज्यशाही जैसे खत्म हुई, वैसे भूस्वामित्व भी समाप्त हो जाना चाहिए।

सेवामूलक स्वामित्व रहेगा, सेवाशून्य स्वामित्व नष्ट होगा। यह समय की वलवत्तर माँग है।

७. व्याज और वट्टा

भूमि का स्वामित्व दूसरों पर प्रभुता चलाने और उनका शोषण करने का आद्य और सबसे जबरदस्त साधन बना। उसमें से फिर शोषण के और भी प्रकार निकले। उनमें साहूकारी और व्याजखोरी प्रमुख हैं।

जिस किसीने वहुत-सी और उपजाऊ जमीन हथिया ली, वह कुछ भी श्रम न करे, तो भी सावन-भादो में उसका धान्यागार भरा रहता है और उसीके कमनसीव और कम जमीनवाले पड़ोसी को इस समय फाके करने पड़ते हैं। अन्नाभाव से त्रस्त ऐसे दीन-हीन लोग अन्न माँगने उस वड़े पेटवाले के पास जाते हैं और अन्न के विना उनका सब काम रुका होने के कारण वे इस उधार अन्न को सवाई या ड्योढ़ा करके भी शोधना स्वीकार करते हैं। सचमुच ही साहूकार के धान्यागार में जो अतिरिक्त अर्थात् उसके परिवार के भरण के लिए आवश्यक अन्न से अधिक अन्न है, वह यदि कोई उधार न ले जाय, तो सड़-गलकर व्यर्थ हो जायगा। इस प्रकार पुराना धान्य उधार ले जानेवाले गरीव किसान यदि उतना ही नया अन्न या उससे कुछ कम भी लौटा दें, तो साहूकार का उसमें लाभ ही है। पर ऋण चाहनेवाले का काम तो रुका है, ऋण देनेवाले का कोई काम उसके विना रुका नहीं रहता, अधिक से अधिक उसका अतिरिक्त अन्न व्यर्थ जा सकता है। इस कारण धनिक का पक्ष प्रवल रहता है और जो शर्तें वह रखता है, वे ऋणिक को स्वीकार करनी पड़ती हैं।

परन्तु अड़गेवाजी पाप है और व्याज माँगना साफ ही अड़ंगा डालना है। व्याज सभी लेते हैं। गरीव लोग तो आपस

के व्यवहार मे और भी वहुत अधिक व्याज लेते है। ऋण लेने-वाला अपनी खुशी से ही व्याज देना स्वीकार करता है।' इत्यादि *युक्तिवाद से ब्याज का समर्थन नहीं होता।* इसकी अपेक्षा 'ऋण लेनेवाला ऋण लेता है महँगाई होने पर और उसे चुकाता है सस्ताई के दिनों में, बाजार-भावों में पड़नेवाले अन्तर की अपेक्षा ब्याज की दर कम ही होती है।' यह कहना सही है। पर इसका अर्थ इतना ही है कि व्याज खाना ही शोषण का एकमात्र तरीका नहीं है। नफाखोरी भी शोषण का ही प्रकार है। नफा-खोरी का विचार हमें अलग से आगे करना ही है।

८. बीज बढ़ता है, समुदाय बढ़ता है

व्याज के समर्थन में दी जानेवाली युक्तियों में मुख्य यह है कि सम्पत्ति एक दृष्टि से यदि विनाशशील है, तो दूसरी दृष्टि से तेजी के साथ बढ़नेवाली भी है। अन्न अन्नागार में सड़ता-गलता है, पर वही अन्न जमीन में बोने पर उसी अन्न से कुछ महीनों के अन्दर एक-एक दाने के सैकड़ों दाने पैदा हो जाते हैं। मुर्गा-मुर्गी की एक जोड़ी से सालभर में ५० मुर्गे हो जाते हैं। गौ मर्त्य तो है, पर ८-१० बछिया-बछरू अपने पीछे छोड़ जाती है अर्थात् सम्पत्ति प्रसवशील है और विनाश उस प्रसव की छाया है। व्याज सम्पत्ति की वृद्धि का अंशमात्र है।

हम जो अन्न दूसरे को उधार देते हैं, उसे वह पेट के लिए ही लेता हो, यह बात नहीं; बीज के लिए भी लेता है। हमारे एक पसेरी अन्न से वह बीसों मन अन्न पैदा करेगा, फिर इतनी बड़ी अन्नराशि से वह हमें ५ सेर या ६ सेर देता है, तो इसमें क्या बुराई है? पहले गाय-भैंस और भेड़-बकरी को ही धन समझा जाता था। यह धन वन में चरकर, पेट भरकर आता है और 'दिन दूना रात चौगुना' बढ़ता है। तब यदि हमने आपको

मुर्गे, भेड या गौ की एक जोडी दी और सालभर बाद आपने हमें दो के बदले पाँच लौटा दिये, तो भी आपके पास काफी संख्या मे ये रह ही जाते हैं। सारी पूँजी इसी प्रकार बढा करती है। उदाहरणार्थ, धनिक से प्राप्त हजार रुपये लगाकर ऋणिक ने फलों का एक बगीचा तैयार किया, तो उस बगीचे से वह हजारों रुपये पैदा करेगा। इस धन से वह यन्त्र-सामग्री जुटाकर कोई कारखाना खडा करे, तो भी उन यन्त्रों की सहायता से उसका उत्पादन बहुत बढेगा और उसकी आय भी बढेगी। इस बढती हुई आय का अश धनिक को भी मिलना चाहिए। ऋणिक यदि उस पूँजी से व्यापार करे, तो तेजी-मन्दी से लाभ उठाकर वह एक का दो जरूर करेगा। धनिक की पूँजी से उसे यह सारा लाभ होगा। तब इस लाभ का अल्प-सा अश धनिक को व्याज के रूप में क्यो न मिले ?

इस युक्तिवाद का कुछ विस्तार के साथ विचार करना होगा। सम्पत्ति किसी काम में लगाने से (इनवेस्ट करने से) बढती है, इसमें सन्देह नहीं। यह वृद्धि दो तरह से होती है : (१) निसर्ग की कृपा से और (२) मनुष्य के श्रम से। मनुष्य का श्रम भी फिर द्विविध है : (१) सचित और (२) वर्तमान। पूँजी है सचित श्रम। पूँजी केवल पैसा नहीं है, बल्कि गाडी, नाव, आरा, लॉरी, पप वगैरह औजार अथवा साधन हैं, जिनकी सहायता से मनुष्य के वर्तमान श्रम अधिक सुकर और अधिक फलदायी होते हैं। निसर्ग और सचित तथा वर्तमान श्रम दोनों के मिलने से सम्पत्ति निर्मित होती है।

पूर्व काल में इन दोनों में निसर्ग की ही प्रधानता थी। मनुष्य जब नर-मास भी खाया करता था, तब निसर्ग और वह, इनके सिवा कोई तीसरी चीज ही नहीं थी। निसर्ग मानो परसा हुआ थाल था, जिसमें से जब जितना हाथ में आ जाता, उठाकर खा

लेने का ही श्रम मनुष्य को करना पड़ता था। पीछे मनुष्य ने नर-मांस खाना छोड़ा और फिर कुछ ने गोमांस खाना भी त्यागा। समूचे मानव वंश का इस प्रकार एक कुटुम्ब बना और उस गोत्र के साथ गोवंश का भी नाता जुड़ गया। इससे निसर्ग का पलड़ा हल्का हुआ और मनुष्य का पलड़ा भारी होता और नीचे झुकता चला गया। गोपालन-युग में श्रम का महत्त्व बढ़ा और अब कृषि-युग विशेष रूप से श्रमप्रधान बन गया है। निसर्ग के परसे हुए थाल का मुँह सकुचित हो चला और अब उसका मुँह गहरा और तंग गलेवाला धम्बू-सा बन गया है। पहले पूँजी भी नैसर्गिक ही हुआ करती थी (मुर्गे, गाय बैल आदि) और उसकी वृद्धि भी नैसर्गिक रीति से ही हुआ करती थी। तब अन्न बीज के रूप में ही रहता था, अन्नागार में सचित नहीं होता था, बल्कि मिट्टी में ही गलकर मिल जाता और अगले मौसम में दस गुना उग आता था।

पर अब अवस्था बहुत बदल गयी है। अब खेत को चौरस कर, बाँध लगाकर, जोतकर, खाद डालकर, हल चलाकर, भिगोकर जितना अन्न आप बोयेंगे, उतना ही बीज हुआ और बाकी अन्न रहा। पहले यह था कि जितना आप खा लेते, उतना तो अन्न और बाकी सब बीज। पहले पूँजी निसर्ग का ही अंश थी, अब वह श्रम का भी अंश हो गयी है। अतः पहले के आरण्यक-युग के न्याय अब के कृषि-युग पर नहीं घटाये जा सकते।

इस युग का न्याय यह है कि जो बोये सो काटे, अर्थात् भोगे। यही उचित है। बीज का ब्याज लेना बिना बोये फसल काटना है। बिना बोये काटना 'जंगली कानून' है। जंगल में रहनेवाला मनुष्य बिना बोये ही काट लेता था। पर उस समय समाज नहीं था और ऋण का व्यवहार भी नहीं था। इसलिए पुराने हवाले नये समय में काम नहीं आ सकते। आपके अन्ना-

आयेगी। ऐसों की ब्याज की आमदनी आप तोड़ दें, तो यह आपकी निठुरता होगी।

पर यह हमारी नहीं, और निठुरता तो यह है ही नहीं। यह हमारा नहीं, सृष्टि का ही नियम है और मनुष्य के लिए वह हानिकर नहीं, हितकर है। ब्याज का अर्थ यही लगता है कि मेरे पिता बहुत कुशल और मेहनती किसान थे, इसलिए मेरा खेत अब बिना कष्ट के, बिना जोते-बोये फसल पैदा करे और बिना काटे, बिना ढँवाये मुझे अन्न मिला करे। मेरे पिता या दादा ने एक लाख रुपया कमाया और बैंक में रखा, इसलिए मुझे हर साल बिना कुछ किये ६,००० रु० मिलता है। अनायास आय की यह पद्धति बहुत सुहावनी लगती है। उनके किये कष्टों का फल उन्हें नहीं, घर बैठे मुझे मिलता है, इतनी ही बात है। विधवाओं और अनाथ बच्चों को ब्याज का जो रुपया मिलता है, वह दूसरों के परिश्रमों से उत्पन्न होता है। इन दूसरों में कुछ विधवाएँ और अनाथ बच्चे भी हो सकते हैं। किसी विधवा को यदि अनायास कुछ मिलता है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि किसी दूसरी विधवा को अपने बाल-बच्चों के साथ कष्ट करके भी भरपेट खाने को नहीं मिलता। ब्याज का अर्थ है स्वामित्व का मोल। स्वामित्व के कारण कर्तृत्व पर अन्याय होता है। मुफ्तखोर को बिना कष्ट किये जो कुछ मिलता है, वह असहाय स्त्रियों के पसीने की गाढ़ी कमाई है और वह उनके मुँह से छीनकर मुफ्तखोर को दी जाती है। यही वास्तविक निठुरता है और इसे मिटाने के लिए ही ब्याज खाना बन्द किया जाना चाहिए। ब्याज-बंदी दयालुता और ब्याज ही निर्दयता है।

१०. उधारी अनुचित ही

ब्याज लेनेवाली महाजनी जैसा शोषण है, वैसा ही उधारी

भी प्रायः एक प्रकार का शोषण ही है। अभी मैं आपसे बिना कष्ट के सौ रुपया ले लूँगा और भविष्यकाल मे—जो हमारे हाथ मे नहीं है—मय व्याज लौटा देने का वादा करूँगा। इसका मतलब तो यही हुआ कि मैं लेकर खाऊँगा और बच्चे फाके करके उसे अदा करेंगे। यह अव्वल दर्जे की मुफ्तखोरी है। उधारी बहुधा आलस्य, दीर्घसूत्रता, फिजूलखर्ची, नशाखोरी, बड़प्पन और क्षुद्रबुद्धि आदि से ही उत्पन्न होती है। ऋणियाँ मोहग्रस्त होता है और महाजन लोभी। एक ही माला के दोनो मनका हैं। 'जस को तस' का बिधान है!

इस प्रकार का धनिक-ऋणिक-सम्बन्ध पाप-सम्बन्ध ही है। ऐसा व्यवहार तो होना ही नहीं चाहिए। किसीको भी कर्ज देने के पहले यह जॉच लेना चाहिए कि उसकी मॉग उचित है या नहीं। मॉग यदि उचित न हो, तो उसे देने से इनकार करना ही ऋणिक पर उपकार करना है। पर लोभी साहूकार ऋण का प्रयोजन नहीं देखा करता। अदाई का आधार और व्याज की दर ये ही दो चीजे उसकी दृष्टि में महत्त्व की होती हैं। यही नहीं, वल्कि जहॉ ऐसी हालत हो कि कर्ज अदा हो ही नहीं सकता, वहॉ कर्ज देने का यह और भी विशेष आकर्षक कारण होता है। कारण इससे बहुत थोड़े में बड़ी 'इस्टेट' हथियाने का अवसर मिलता है। ऋण करने के लिए उचित कारण दो ही हो सकते हैं, दैवी आपदा अथवा कोई नयी योजना। आपद्-ग्रस्तो से व्याज लेना तो मनुष्यता के ही विरुद्ध है और नव निर्माण करनेवाले पर व्याज का दण्ड लगाने की अपेक्षा उसे कुछ नजर करना ही अधिक उचित होगा।

११. भाड़ा

मेरी कोई चीज—उदाहरणार्थ आरा, गाडी, सिलाई की मशीन, घर, टाइपराइटर, ? आदि—कोई दूसरा आदमी बरतने

के लिए ले, तो उसका भाड़ा वह मुझे दे, यह उचित है। बहुतेरे यह पूछते हैं, 'जो जोते-बोये-कमाये उसकी' यदि 'जमीन' हुई, तो 'जो रहे उसीका मकान' और 'जो बरते उसीका आरा' क्यों नहीं? पर 'कमाये' और 'रहे-बरते' में बहुत बड़ा अन्तर है। जो 'चराये उसकी बकरी' और 'जो खा जाय उसकी बकरी' इन दोनों में जो अन्तर है वही 'कमाये उसकी जमीन' और 'रहे उसका घर' इन दोनों में है। जो कमाये उसकी जमीन होती है, इसीलिए जो 'काटे उसकी जमीन' नहीं हो सकती।

मेरा आरा आपने बरता, इससे वह कुछ न कुछ घिसा। इस घिसाई का बदला देना आपको उचित है। बरतकर लौटाया हुआ आरा आप जो ले गये थे, उस आरे की अपेक्षा घिसा याने कम हुआ रहता है। पर मेरा सौ का नोट आप सालभर बरतें, तो भी वह नहीं घिसता। वह नोट अब आप लौटाते हैं, तो उसका असली मूल्य ही मुझे मिल जाता है। अतः उस पर बढ़ता हुआ ब्याज देने का कोई कारण नहीं है। परंतु आरा जो आप लौटाते हैं, वह जितना था उतना नहीं लौटाते, घिसाकर लौटाते हैं अर्थात् घिसाई आपको पूरी देनी चाहिए। खेती के अथवा कारखाने के उत्पादन-खर्च में साधनों और औजारों की घिसाई जोड़ी जाती है, यह उचित ही है।

हाँ, यह बात सच है कि आजकल भाड़े के नाम पर मकान मालिक ब्याज भी वसूल करते हैं। घिसाई + ब्याज = भाड़ा, ऐसा हिसाब चलता है। ब्याज भी बहुत कर्रा होता है। अतः भाड़े के उचित और अनुचित दोनों भाग अलगाकर जितना उचित है, मानना चाहिए और अनुचित को अस्वीकार कर देना चाहिए।

इस विषय में यह मर्यादा तो स्पष्ट ही है कि घिसाई घर और औजारों के असली मूल्य से कभी अधिक हो ही नहीं सकती। अर्थात् भाड़े की कुल रकम उस चीज की असली कीमत से अधिक

किसी हालत में न हो सकेगी। मेरी पन्द्रह हजार रुपयों की एक टैक्सी कोई श्रमिक ड्राइवर ले जाय और उसका भाडा रोज २५ रु० देकर छह सौ दिनों में १५,००० रु० पूरा करे, तो इतना करने के बाद वह भाडा देने से मुक्त हो जाता है। फिर वह टैक्सी उसीकी हो जायगी।

तात्पर्य, भाडा कीमत की किस्तबन्दी है। पूरी कीमत के बराबर किस्तें अदा हो चुकने पर भाडा देनेवाला ही उस चीज या घर का मालिक हो जाय, यह उचित ही है।

एक ही भडैत पूरी किस्तें दे डाले, तो हिसाब ठीक बैठता है। पर भडैत बार बार बदला करते हैं, भाडा रुकता या डूब जाता है, कभी कोई भडैत नहीं भी होता, ऐसी हालत में यह हिसाब कैसे बैठ सकता है? यह कुछ विकट-सा प्रश्न है। पर एक सिद्धान्त जब निश्चित हुआ और उसे पालन करने की इच्छा भी है, तो कोई न कोई व्यवहार्य मार्ग निकल ही आता है। भाडे की दर ही ऐसी निश्चित की जानी चाहिए कि पूरा भाडा (याने असली कीमत के बराबर) वसूल हो ले, तब तक वह चीज भी बेकार हो जाय। यह हिसाब यदि बिना कोर-कसर पूरा न बैठे और उससे मालिक का कुछ नफा-नुकसान हो, तो उसके लिए किसीके चित्त में कोई ग्लानि न होनी चाहिए। अथवा भाडे की दर उपर्युक्त ढग से निश्चित की जाय और पूरी कीमत वसूल होने पर वह चीज या घर सार्वजनिक स्वामित्व का हो जाय, अर्थात् ग्राम-पचायत, लोकल बोर्ड या सरकार के हाथ में चला जाय।

हम आप यहाँ जो विचार कर रहे हैं वह मुख्यत आत्म-शुद्धि या अर्थशुचिता अर्थात् निष्पाप जीवन पद्धति के हेतु से कर रहे हैं। हराम की चीज मिलती भी हो, तो भी मैं स्वय उसे लेना नहीं चाहता। वैसा करने के लिए समाज मुझे विवश कर सकता है या नहीं, यह प्रश्न ही तब नहीं उठता। तथापि समाज

भी ऐसे व्यवहार का सुनियंत्रण कैसे करे, इसकी पद्धति विचार-पूर्वक निश्चित करना आवश्यक है।

हम यहाँ व्याज या भाड़े की माँग सर्वथा अस्वीकार नहीं कर रहे हैं। व्याज असल रकम की अदाई की और भाड़ा चीज की कीमत की किस्तबन्दी समझा जायगा और पूरी रकम वसूल होने पर किस्तबन्दी खत्म होगी। श्रमशून्य वृद्धि ही अनैसर्गिक, अन्याय्य और हानिकारक है। केवल इसीका यहाँ निषेध निर्दिष्ट है।

१२. डिविडेंड

कम्पनी के शेयर पर मिलनेवाला 'डिविडेंड' (अंश) भी एक प्रकार का व्याज ही है। कर्ज के लेन-देन में धनिक को ऋणिक के नफा-नुकसान की कोई जोखिम नहीं उठानी पड़ती। 'शेयर होल्डर' (कम्पनी का हिस्सेदार) नफा-नुकसान की जोखिम उठाता है। एवज रखनेवाले की अपेक्षा वह अधिक जिम्मेदार होता है। इसके बदले में कारखाने या व्यापार में लगी हुई पूँजी पर उसका स्वामित्व अबाधित रहता और लाभ होने पर उसका अंश उसे अखण्ड रूप से मिलता रहता है। अर्थात् डिविडेंड शुद्ध व्याज नहीं है। उसे लाभ ही कहना चाहिए। तथापि लाभ बिक्री-दर पर अवलंबित होता है और बिक्री-दर इस दृष्टि से निश्चित की जाती है कि पूँजी पर कुछ न कुछ व्याज भी मिलता रहे। अर्थात् लाभ में व्याज अन्तर्भूत रहता है। व्याज के अतिरिक्त नफे में कुछ अनुचित बातें भी समाविष्ट रहती हैं :

(१) संकटकालीन क्षति की पूर्ति (प्रसंग विशेष से होने-वाली क्षति की पूर्ति के लिए अलग रखी हुई रकम), (२) विकास-निधि (उद्योग-धन्धे की वृद्धि के लिए) (३) धर्मादाय। इसके अतिरिक्त धन्धे में जो जोखिम होती है, उसका भी बदला नफे

में शामिल रहता है। ब्याज और जोखिम का बदला, इन रूपों मे पूँजीदार को मिलनेवाली अतिरिक्त रकम उचित नहीं है। यदि नफा हो, तो वह कार्यकर्ताओं और ग्राहकों में ही बँटना चाहिए। छोटे-बड़े कार्यकर्ताओं के वेतन बढ़ें और ग्राहकों को सस्ती दर में माल मिले। धन्धे में कोई जोखिम हो, तो वह अकेले-दुकेले या कुछ थोड़े से लोगों पर ही न पड़े, बल्कि उसका सार्वत्रिक बँटवारा होना उचित है। अर्थात् जोखिम के उद्योग-धन्धे जो जीवन के लिए आवश्यक हों, सरकार या लोकल बोर्ड, ग्राम-पंचायत आदि ही चलाये अथवा उनसे होनेवाला अनायास लाभ या अपरिहार्य हानि भी उठा लें। समाज में जोखिम उठानेवाले कुछ साहसी लोग और बाकी भीरु, साहसी पूँजीपति और भीरु श्रमजीवी, ऐसा भेद न होना चाहिए।

पूँजीपति को 'स्लीपिंग पार्टनर' (*सोया हुआ साझी या सहकारी*) ही कहा करते हैं। जो सोया हुआ है, वह सहकार्य कैसे करेगा ? 'जो सोता है सो खोता है,' यही ठीक भी है। सोनेवाले *साझी के लिए इतना ही बहुत है कि वह अपनी संचित की हुई कमाई भोग ले। श्रमजीवी कार्यकर्ताओं और ग्राहकों के स्वत्व* का वह अपहरण न करे।

१३. ब्याज के बदले विकास-कर

मनुष्य-संख्या बराबर बढती ही जायगी। उनकी *आवश्यकताएँ* और जीवनमान बढता जाय, यह भी उचित ही है। हमारे पूर्वजों ने जो श्रम किये उनके फल—ये सड़कें, पुल, रेलवे, बिजली बाँध, नहर, यंत्र, बाग इत्यादि—हम *अनायास* भोगते हैं और पूर्वजों की तुलना में अधिक समृद्धि भोग करते हैं। पूर्वजों का यह ऋण हम इसी प्रकार चुका सकते हैं कि अपने वंशजों के

लिए वर्तमान जगत् से अधिक समृद्ध जगत् छोड़ जायें। बढ़ती हुई जनसंख्या और बढ़ती हुई साधन-समृद्धि के लिए उत्पादन दूनी वृद्धि के वेग से बढ़ता जाय। उत्पादन वृद्धि के लिए उपर्युक्त सब प्रकार की पूँजी भी बढ़नी चाहिए—और अधिक कृषिक्षेत्र, और अधिक बाग-बगीचे, और अधिक रेल्वे, और अधिक इंजन तथा गाड़ियाँ, और अधिक तकलियाँ, और अधिक करघे, और अधिक मकान इत्यादि। इस पूँजी को बढ़ाना हो, तो वर्तमान उत्पादन सारा का सारा उपभोग में या उपभोग के पदार्थ निर्माण करने में ही समाप्त न करके उसका कुछ भाग बचाकर पूँजीगत साधननिर्माण करने में लगाना चाहिए। विकास या वृद्धि का यह उत्तरदायित्व प्रत्येक उत्पादक के सिर पर आता है।

किरायादार मकान-मालिक को मकान के मूल्य से अतिरिक्त किराया न दे, पर उसे मकान के साथ दो एक दर (कटरे के) और बनवा देने चाहिए। बुनाई का कारखाना पूँजी लगानेवाले को असल रकम दे चुकने के बाद ब्याज न दे, पर कुछ और करघे जारी कर दे।

उत्पादक का प्रथम उत्तरदायित्व अवश्य ही यही होगा कि साधन-औजारों की घिसाई वह पूरी करे, उसके बाद उनकी वृद्धि करने का उत्तरदायित्व उसपर होगा। वह असल दे पहलेवालों को और ब्याज दे आगेवालों को।

पहलेवालों को ब्याज देते रहना क्या है, एक तरह की भूत-बाधा याने भावी विकास में होनेवाली भूतकाल की बाधा है। पितरों का ऋण चुकाने का उत्तम मार्ग उनकी मूर्तियाँ स्थापित कर उनकी पूजा-अर्चना करना नहीं, बल्कि वंशधर बाल बच्चों का भरण-पोषण करना है। इसके विपरीत यदि प्रत्येक पितर की

एक-एक मूर्ति हम खड़ी करें, तो सारा घर ही निष्प्राण मूर्तियों से भर जायगा और जीवित मनुष्यों के रहने के लिए कोई स्थान ही न रहेगा। प्रत्येक मृत व्यक्ति की कब्र बनाकर उसे ज्यों-की-त्यों बनाये रहने की नीति हम अंगीकार करें, तो खेती की सारी जमीन कब्रों से भर जायगी और समूचा ग्राम कब्रिस्तान बन जायगा। व्याज की दुष्ट प्रथा के कारण आज ठीक यही बात हो रही है। एक बार जिन्होंने पर्याप्त बचत कर ली, उन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी बैठे-बैठाये पोसना पड़ रहा है। कुछ काल श्रम किया, बचत कर ली, पीछे बिना कष्ट, बिना श्रम खाते पड़े रहो! जो कोई एक बार इस बचतजीवी वर्ग में दाखिल हुआ, वह सदा के लिए अपंग बना। परिणाम यह होता है कि उत्पादक श्रम करने-वालों पर इन आराम-जीवियों को खिलाते रहने का भार आ पड़ता है, इससे उत्पादकों की सख्या घटती जा रही है और उन पर बोझ तेजी के साथ बढ़ता जा रहा है। एक ओर भेद बढ़ता है, दूसरी ओर कुशला। मानव-समाज में अनुत्पादक भक्षक और उत्पादक भक्षित, ये वर्गभेद बनते और वे अधिकाधिक तीव्र होते जा रहे हैं। इसका यह फल होगा कि भक्षित कभी-न-कभी क्षीण होकर मर मिटेंगे और भक्षकों के लिए भक्षण करने के अर्थ कोई रहेगा नहीं, इससे वे भी मर जायेंगे। व्याज के टाइम-बम भी यह काम चुपचाप पूरा करेंगे।

१४. विनाशी सम्पत्ति और अविनाशी सिक्के

सब प्रकार की वास्तविक सम्पत्ति विनाशशील होती है। सम्पत्ति हैं उपभोग की विविध वस्तुएँ—अन्न, वस्त्र, घर, मोटर, रेडिओ, दीप, पुस्तकें, बर्तन, कुर्सियाँ, जेवर, फूल, चित्र इत्यादि। फूल, फल, दूध आदि अल्पायु सम्पत्ति हैं और सोना-चाँदी आदि दीर्घायु। पर अजर-अमर कोई भी नहीं। फिर भी सुवर्ण करीब-

करीब अजर-अमर है। उसके इस अमरत्व और व्यवहार में उसके सुविधाजनक होने के कारण उसका महत्त्व इतना बढ़ा है। सुवर्ण का उपयोग अलंकार बनाने में, औषधियाँ तैयार करने में, कलई करने में अथवा अन्य भी कुछ उत्पादक उद्योगों में होता है। पर आज सुवर्ण का मूल्य जो बेहिसाब बढ़ा है, वह उसके इन उपयोगों के कारण नहीं, बल्कि केवल संग्रह के नाते। उपयुक्तता की दृष्टि से सुवर्ण 'स्टेनलेस पीतल' ही है। इस दृष्टि से उसका मूल्य पीतल से पाँच-सात गुना हो सकता था। पर हजारों गुना जो इसका मूल्य बढ़ा, वह केवल संग्रह के कारण। सुवर्ण का पता लगने से पहले दूध और दूध के पदार्थ, फल और फूल, अंडे और मांस ही नहीं, बल्कि अन्न भी आवश्यकता पूरी होने के बाद जो बच रहता, उसे दूसरों को दे डालने के सिवा और कोई उपाय नहीं था। चमड़ा, ताँबा, लोहा जैसे अधिकाधिक टिकाऊ और उपयुक्त पदार्थ जैसे-जैसे हाथ लगते गये और पदार्थों का विनिमय बढ़ चला, वैसे-वैसे मनुष्यों की प्रवृत्ति अधिक टिकाऊ पदार्थों के संग्रह की ओर होने लगी और अल्पायु पदार्थ देकर टिकाऊ पदार्थ लोग लेने लगे। टिकाऊ पदार्थों की अङ्गभूत उपयुक्तता के हिसाब से उनका विनिमय-मूल्य याने कीमत बढ़ने लगी। बची हुई चीजें दूसरों को यों ही न देकर उनके बदले में अधिक टिकाऊ और संग्रहयोग्य सम्पत्ति जोड़ी जाने लगी। सुवर्ण ने तो अन्य सब चीजों को पीछे हटा दिया। दूध का या फलों का सुवर्ण बनाकर रखो, तो वह अभंग बना रहता है और उससे चाहे जब दूध के पदार्थ, फूल, फल अथवा जो चाहे बना सकते हैं।

लेन-देन की सुविधा के लिए ताँबा, चाँदी, निकल, सोना इन धातुओं के परिमाणयुक्त छोटे-बड़े सिक्के के टुकड़े बनाये गये। इन्हें हम सिक्के या मुद्रा कहते हैं।

सुवर्ण के आविष्कार और सिक्कों की योजना से मनुष्य की संग्रह-शक्ति और उससे लोभ बेतरह बढ़ा। सच पूछिये तो सिक्के कोई सम्पत्ति नहीं, बल्कि संपत्तिदर्शक मुद्राएँ हैं। सिक्के चिट या कूपन जैसे हैं। अंग्रेजी शब्द नोट का मूल अर्थ चिट ही है। डेरी के कूपन हम लोग लेते हैं। ये कूपन उसी खास डेरी मे दूध के लिए और महीनेभर ही चलते हैं। पर सिक्के सर्वत्र सब वस्तुओं के लिए अथवा सेवा के लिए चलनेवाले कूपन हैं। पर मजे की बात यह है कि सब प्रकार की वास्तविक सम्पत्ति विनाशी होती है, पर यह बदले में आयी हुई सम्पत्ति अविनाशी है, इससे असल सम्पत्ति की अपेक्षा इस नकली सम्पत्ति को ही सबसे ऊँचा पद प्राप्त हुआ है। इसने भगवती लक्ष्मी को पदच्युत कर उसका सिंहासन छीन लिया है। मैं अपने पिता का चित्र कागजी फूलों का हार पहनाकर अपनी बैठक मे रखूँ और फिर स्वयं पिता को भी वहाँ आने से रोक दूँ, कुछ ऐसी ही यह बात है। पेट के लिए अपार कष्ट करनेवाले मजूर को हम अन्न, वस्त्र, गुड़ इत्यादि देना चाहते हैं, तो वह इन्हे लेना नहीं चाहता बल्कि रोकड़ लेना ही पसंद करता है।

इसका एक कारण तो यह है ही कि सिक्के संग्रह करने, एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने और चाहे जो चीज खरीदने के काम में सुविधाजनक होते हैं। पर इसका विशेष महत्त्व का कारण यह है कि सिक्के अभंग और अमर होते हैं। गुड़ लेते हैं तो वह पिघल जाता है, चींटियाँ खा जाती हैं, उसमें खटास भी आ जाती है। पर सिक्कों या नोटों के लिए इनमें से कोई भय नहीं है। इसलिए मनुष्य सच्ची सम्पत्ति को छोड़कर पैसे का पीछा करता है।

इस प्रकार पैसे का महत्त्व बढ़ जाने से अनेक प्रकार के अनर्थ उत्पन्न होते हैं। मुख्य बाधा यह होती है कि पैसे का मूल्य

अनिश्चित होता है। एक सेर अन्न में दो दिन मेरा पेट भरेगा यह मैं जानता हूँ, पर एक रुपये में मै व्यालू भी कर सकूँगा या नहीं, यह बात बदलते बाजार-भाव पर निर्भर है। इस कारण, पैसा चाहे जितना भी जोड़ा जाय, वह पर्याप्त कभी नहीं होता। इससे पैसे का लोभ अमर्याद होता है।

जिस किसान के पास खेती-बारी, गाय-बैल, घर-गोठ, पेड़-पालो इत्यादि साधन हैं, जिसके लड़के निरलस, नीरोग और अच्छे स्वभाववाले हैं, जिसका अड़ोसी-पड़ोसी के साथ कोई दावा-धक्का नहीं है, वह यह कहता हुआ कि 'मेरे बाल-बच्चों के लिए क्या कमी है?' निश्चिन्त चित्त से मृत्यु का स्वागत कर सकता है। पर यह निश्चिन्तता लखपति के नसीब में नहीं होती। एक लाख के बदले दो लाख अपने पास होते तो अधिक अच्छा होता, यह बात तो उसके जी को सदा लगी ही रहेगी।

वास्तविक सम्पत्ति हिसाब के बाहर रखी ही नहीं जा सकती। पर सिक्कों और नोटों की बदौलत मनुष्य की संग्रह-शक्ति भी अमर्याद हो जाती है। किसी सामान्य नागरिक के पास बन्दूकें और गोला-बारूद बेहिसाब एकत्र हों, तो समाज के लिए उससे भय रहता है। उसी प्रकार पैसा भी एक शक्ति है। सिक्के गोलियाँ न हों, पर टिकलियाँ तो हैं ही। इनकी मार से चाहे जैसा उलट-फेर कराया जा सकता है, बहुतों को बहुत प्रकार से कुंठित किया जा सकता या उन्हें नीचा दिखाया जा सकता है।

इसके सिवा पैसे के व्यवहार में पैसेवाले व्यापारी की बन आती है और वस्तुमान् किसान फँसता है। पैसे के रूप में पदार्थों के भाव भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होते हैं, व्यापारी इनकी खोज-खबर रखते हैं और अपने निजी स्वार्थ के लिए उसका उपयोग कर किसानों को लूट लेते हैं। व्यापार की अपेक्षा

उत्पादन का महत्त्व अधिक होना चाहिए; पर पैसे का खेल देखिये, किसान अथवा उत्पादक किसी तरह गुजरभर कर लेते हैं, मालामाल होते हैं दलाल और व्यापारी।

और भी अनेक प्रकारों से पैसे का बढ़ा हुआ महत्त्व अनर्थकारक हुआ है; सारा व्यवहार एक तरह का सट्टा-सा बन गया है।

१५. मुद्रा-ह्रास

इसलिए पैसे को उसकी उचित मर्यादा के भीतर रखने का कोई उपाय निकालना आवश्यक है। पैसे को जो अवास्तव महत्त्व प्राप्त हुआ, उसके दो कारण हम लोगों ने देखे: (१) इसकी सुविधता, संग्रह और लाने-ले-जाने की सुविधा और (२) इसकी अमरता। इनमें सुविधता इष्ट याने अपनी इच्छा के अनुरूप ही है। पर अमरता अनपेक्षित रूप से सिर पर चढ़ बैठी है। पैसा है कूपन। पेट्रोल लाने-ले-जाने की अपेक्षा पेट्रोल के कूपन लाने-ले-जाने मे सुविधा है इसके सिवा पेट्रोल गलता और उड़ जाता है। कूपनों में यह भय नहीं है। पर पेट्रोल के कूपन अवधि से बँधे होते हैं। ऐसे ही सिक्के भी अवधिबद्ध होने चाहिए। १९५८ के सिक्के या नोट १९५९ में ज्यों-के-त्यों न चलने पायें। इन सिक्कों से निर्दिष्ट अन्न, मिट्टी का तेल, लोहा आदि वस्तुएँ जैसी नाशवान् और कालांतर में घटनेवाली हैं, वैसे ही सिक्के भी घटनेवाली चीज होने चाहिए। १९५८ के १०० रु० '५९ में ९५ और '६० में ९५ के ९० होने चाहिए। वजन के काँटे और माप हर साल जिस प्रकार मुहर के साथ बदल लेने पड़ते हैं, उसी प्रकार सिक्के, नोट साल बदलते ही बदल लेने चाहिए और इन्हें बदल लेने मे इनमें सैकड़े ५ (या जो दर निश्चित हो) घटी होनी चाहिए। ऐसा करना उचित और निसर्ग के अनुरूप ही होगा। असली सम्पत्ति जब विनाशशील है, तब बदले रूप

की यह सम्पत्ति अविनाशी हो और व्याज से बढती चली जाय, यही विकृति है। उपर्युक्त उपाय से इस विकृति का निराकरण होगा।

१६. पैसा नहीं लगायेंगे

हमारे व्याज-भाडा-डिविडेंड-खण्ड के नियन्त्रण से एक बाधा उत्पन्न हो सकती है। पैसा दूसरे को उधार देने से अथवा घर या यन्त्र सामग्री में लगाने से मेरा यदि कुछ भी लाभ न होता हो, तो पैसा मैं अपने पास ही जमा रखूँगा, किसी उपयोगी काम में न लगाऊँगा। उसके लिए लाभ का कुछ लोभ होना चाहिए।

इसके विपरीत बिना श्रम की आय भी अन्याय्य और हानिकारक है, यह हम देख चुके हैं।

इन दोनों के बीच का मार्ग यह निकल सकता है कि सिक्कों की जमा में वार्षिक सैकड़े ५ की जो घटी लगे, उसमें से आंशिक या सम्पूर्ण मुक्तता उन लोगों को दी जाय, जो अपने सिक्के दूसरों को उधार दें अथवा भाड़े पर चलनेवाले साधनों में लगायें। अर्थात् १०० रुपये के ९५ होने के बजाय उधार दिये हुए रुपये १०० के ९८ वापस मिलें अथवा अधिक-से-अधिक सौ के सौ ही मिलें। उधार दिया हुआ अन्न १ मन या ३८ सेर मिलने के बदले ३९ सेर मिले अथवा पूरा ४० सेर ही मिले। इससे मालिक को सैकड़े पीछे कुछ व्याज मिला जैसा होगा। यह व्याज 'घटी में छूट' के तौर पर होने से बाधक नहीं होगा। पर किसी भी हालत में यह 'छूट' घटी के बाहर न जायगी। अर्थात सिक्के घटेंगे, बढ़ेंगे नहीं, यह मर्यादा बनी रहेगी।

१७. सिक्कों का अकाल ?

कुछ लोग अपनी जमा दूसरों के काम न आने दें, सन्दूक में बन्द करके रखें, तो उससे चलन में कुछ कमी जान पड़ेगी, पर कोई

रुकावट पैदा हो, ऐसा तो नहीं है। यह नहीं होगा कि इससे 'उतनी सम्पत्ति व्यर्थ गयी', क्योकि वह सम्पत्ति थी ही नहीं। वास्तविक सम्पत्ति याने जीवन-साधन नहीं घटते। सिक्कों की कमी का अर्थ अन्न की कमी नहीं है।

तथापि वास्तविक सम्पत्ति का भी समाज में स्वाभाविक रुधिराभिसरण होने के लिए सिक्कों का चलन एक साधन, एक वाहन है। सिक्कों के अभाव में वस्तु विनिमय मे कठिनाई होगी। जनसंख्या, देश का विस्तार, यातायात के साधन, वास्तविक सम्पत्ति का माप और उस सम्पत्ति का आवश्यक हेरफेर इत्यादि बातो को ध्यान में रखकर ही सरकार व्यवहार में सिक्कों का चलन बढ़ाती या घटाती है। सिक्के यदि संचित रह गये, तो यह हिसाब बिगड़ जायगा और जहाँ-तहाँ सिक्कों की कमी अनुभूत होगी।

यह कठिनाई अवश्य पैदा होगी, पर इसका सुलभ परिहार इस प्रकार किया जा सकता है कि ब्याजबन्दी के कारण जो सिक्के चलन से खींचकर संचित किये जा सकते हैं, उनका एक अनुमान करके उस परिमाण में सिक्कों का चलन बढ़ाया जाय। इस प्रश्न का अधिक विचार अनुभवी अर्थशास्त्रज्ञ कर सकते हैं। हम राज-काज तथा प्रत्यक्ष आर्थिक व्यवहारों के विषय मे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। तथापि इससे ब्याजबन्दी के स्वयंसिद्ध नैतिक सिद्धान्त में कुछ भी बाधा नहीं पड़ती।

१८. सुवर्ण पर नियन्त्रण

आप वर्षानुवर्ष मुद्राएँ घटाते चलने की योजना बनायें, तो सिक्कों के बदले लोग सोना-चाँदी ही बटोरने के प्रयत्न आरम्भ करेंगे, क्योंकि सोना-चाँदी कालान्तर में जीर्ण नहीं होते अथवा उनके बाजार-भाव भी अधिक नहीं बदलते। इस कारण सिक्के

रखने के बदले सोना-चाँदी बटोरकर रखने से सिक्कों की घटी से बच सकते है। अतः सोना-चाँदी पर नियंत्रण होना जरूरी है। आजकल संग्रह करने में सोना-चाँदी का उपयोग वैसे भी लोग विशेष रूप से नहीं करते। सोने की अपेक्षा नोट रखना अथवा बैंक में जमा रखना, संग्रह के ये अधिक सुविधाजनक तरीके चल पड़े हैं। केवल अपढ़ गँवार ही सोने का संग्रह करते हैं और बुद्धिमान कहे जानेवाले लोग भी गुप्त संग्रह के लिए सुवर्ण का आश्रय लेते हैं। राष्ट्रों के पारस्परिक लेन-देन में सोने की आवश्यकता पड़ती थी। पर अब वह भी नहीं पड़ती। अधिकतर लेन-देन पदार्थों के रूप में ही होता है और वर्ल्ड बैंक (विश्व बैंक) की मार्फत बिना एवज यह लेन-देन किया जा सकता है।

सोने को अवास्तव मूल्य प्राप्त होने से बहुत-सा जनबल जो अन्न-वस्त्र आदि के उत्पादन मे लगता, व्यर्थ ही सोने की खानों में लगा है। मानव-समाज की यह बहुत बड़ी हानि है। इसलिए अब से नया सोना खनकर निकालने का काम बन्द किया जाना चाहिए। अभी पृथ्वी-तल पर जितना सोना है, उससे पूर्वोक्त समुचित उपयोग के लिए वंशानुवंश काम चल सकता है। केवल संग्रह के लिए सोना बटोरना कागजी चलन की योजना के पश्चात् अनावश्यक, अप्रयोजक और हानिकारक है। इसलिए केवल चालू उचित उपयोग के लिए सोने का यथापरिमाण वितरण किया जाना चाहिए और सोने के जो अतिरिक्त संचय हों, उन्हें सरकार को चाहिए कि अपने हाथ में कर ले।

संभव है कि राज-काज की दृष्टि से इस विषय में बहुत-सी बाधाएँ उत्पन्न हों और अनेक प्रकार के समझौते करने पड़ें। यह मानते हुए भी तत्त्वतः यह सूचना स्वीकृत होनी चाहिए और यथासंभव कार्यान्वित की जानी चाहिए। अस्तु।

१९. नफा

शोषण का और एक महान् प्रकार व्यापार में नफा है। ग्राहक के अज्ञान, भोलापन अथवा कठिनाई से लाभ उठाकर चूसे हुए अनुचित नफे पर ही यह बात नहीं घटती, बल्कि बाजार-भाव के उतार-चढ़ाव से मिलनेवाला नफा भी बिना कष्ट की ही आय है। दूसरों की हानि में से ही वह निकल सकती है। अर्थात् यह शोषण ही है।

दूसरों की यह हानि जान-बूझकर नहीं की जाती, यह बात सही है। व्यापारी को कभी नफा होता है, तो कभी नुकसान भी उठाना पड़ता है। एक काम में लाभ होता है, तो उसी समय दूसरे किसी काम में ठेस भी लगा करती है। मतलब यह कि यह नफा-नुकसान एक तरह का जूआ है। जूआ खेलना तो अनुचित ही है।

व्यापार में होनेवाला उचित व्यय—यातायात, यातायात में होनेवाले धोखे या उनका बीमा, स्टॉक, माल का गिरना-सड़ना, कामगारों का मेहनताना इत्यादि—बिक्री-दर में जोड़ा जाना उचित है, अर्थात् इस हद तक का नफा उचित है, पर इसके आगे तेजी-मन्दी से होनेवाला नफा-नुकसान अनधिकार है, नफा भी अनधिकार और नुकसान भी अनधिकार।

इसलिए व्यापार निजी तौर पर तो किया ही न जाना चाहिए। उसका सामुदायिक होना ठीक है; सहकारी पद्धति से याने जिसमें क्रेता-विक्रेता एक ही होते हैं, यह काम चलना चाहिए अथवा ग्राम-पंचायत, म्युनिसिपैलिटी, लोकल बोर्ड आदि इसे चलायें, जिसमें तेजी-मंदी किसी एक के माथे न पड़े, सर्वत्र बँट जाय।

२०. विषम पारिश्रमिक

शोषण का और एक सार्वत्रिक प्रकार है—वेतन या मेहनताने में विषमता। प्राथमिक शिक्षक को वेतन सत्तर रुपया, माध्यमिक शिक्षक को दो सौ और कालेज के प्रोफेसर को पाँच सौ; गाँव के मजदूर को ८० रु०, तहसीलदार को २५० रु० और कलेक्टर को १,५०० रु०; लुहार की रोजी १ रु०, कसेरे की ३ रु० और सुनार की ५ रु०। हरिजन गाँव की चाकरी करता है, उसे वेतन क्या मिलता है? अन्न के लिए मृतमांस या गाँव का जूठन और वस्त्र के लिए स्मशान के कफन!

सचमुच न्यायाधिष्ठित समाज-व्यवस्था में सब प्रकार के समाजोपकारक कामों की प्रतिष्ठा और प्राप्ति समान होनी चाहिए। जिसकी आय औसत से अधिक है याने औसत हिसाब से श्रम करके जो सामान्य से ऊपर की श्रेणी के जीवनमान से रह सकता है, वह जाने-बेजाने शोषक है। जिसकी आय औसत से कम है वह शोषित है। यह शोषण कहाँ, कैसे, कितना होता है यह दिखाया नहीं जा सकता। बस इतना ही। इस पर उपाय क्या है?

२१. श्रम-चलन

विनोबा जी कहते हैं, श्रमचलन जारी किया जाना चाहिए। सिक्के पर रुपया, आना, पैसा न लिखकर दिन, घण्टे, मिनट लिखा जाना चाहिए। एक गुण्डी सूत कातने में दो घण्टे लगते हैं। इतने सूत के लिए रुई तैयार करने में एक घण्टा लगता है। इस तरह एक गुण्डी की कीमत हुई तीन घण्टे। बुनकर की एक गज खादी की कीमत उस हिसाब से पन्द्रह-सोलह घण्टे होगी। किसी चीज को तैयार करने में सामान्य रूप से जितने घण्टे काम करना पड़ता है, उतने घण्टे ही उस चीज की कीमत माने

जायँगे। इस प्रकार नाई का घण्टा और वकील का घण्टा दोनों बराबर होंगे। सब प्रकार के समाजमान्य श्रमों का मूल्य समान होगा। आफिस के समयभर मन लगाकर काम करनेवाले चपरासी से लेकर राज्यपाल तक सबको समान वेतन मिलेगा और उतना ही वेतन खेतों पर काम करनेवाले मजदूर और कारखानों में काम करनेवाले मजदूर, सरदार, मैनेजर, इंजीनियर आदि को भी मिलेगा।

परन्तु यह नया चलन जारी करने में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। वकील या सर्जन के एक घण्टा श्रम के पीछे कई घण्टों की पहले से तैयारी छिपी हुई होती है। पहले की कुछ तैयारी तात्कालिक होती है और कुछ शिक्षा के रूप से अनेकों वर्ष पहले से की हुई होती है। कोर्ट में एक घण्टा भाषण करने के लिए कई दिन पहले से कागज-पत्रों को पढ़ना पड़ता है। इसलिए बैरिस्टर का एक घण्टा सच पूछिये तो पचीस घण्टों के बराबर समझा जाना उचित है। प्राथमिक शिक्षक का पढ़ाने का एक घण्टा और प्रोफेसर के व्याख्यान का एक घण्टा, इन दोनों के मूल्यों में भी उतना ही अन्तर रखना होगा। (इस प्रकार पहले से की हुई तैयारी का हिसाब लगा लेने पर भी प्रचलित विषमता का समर्थन नहीं होता।) इसके सिवा इन घण्टा-सिक्कों की भी चोरबाजारी चल सकती है। वकील ही मुवक्किल से नहीं, किन्तु कुली भी भीड़-भाड़ के मौके पर यात्रियों से आध घण्टा काम के बदले घण्टे के दो-चार नोट और माँग सकता और पा सकता है।

२२. सौदा और अड़ंगा

जहाँ सौदे की बात आयी वहाँ उसमें अड़ंगाबाजी भी आ ही जाती है। बाजार-भाव माँग और पूर्ति पर अवलंबित

२०. विषम पारिश्रमिक

शोषण का और एक सार्वत्रिक प्रकार है—वेतन या मेहनताने में विषमता। प्राथमिक शिक्षक को वेतन सत्तर रुपया, माध्यमिक शिक्षक को दो सौ और कालेज के प्रोफेसर को पाँच सौ; गाँव के मजदूर को ८० रु०, तहसीलदार को २५० रु० और कलेक्टर को १,५०० रु०; लुहार की रोजी १ रु०, कसेरे की ३ रु० और सुनार की ५ रु०। हरिजन गाँव की चाकरी करता है, उसे वेतन क्या मिलता है? अन्न के लिए मृतमांस या गाँव का जूठन और वस्त्र के लिए स्मशान के कफन!

सचमुच न्यायाधिष्ठित समाज-व्यवस्था में सब प्रकार के समाजोपकारक कामों की प्रतिष्ठा और प्राप्ति समान होनी चाहिए। जिसकी आय औसत से अधिक है याने औसत हिसाब से श्रम करके जो सामान्य से ऊपर की श्रेणी के जीवनमान से रह सकता है, वह जाने-अनजाने शोषक है। जिसकी आय औसत से कम है वह शोषित है। यह शोषण कहाँ, कैसे, कितना होता है यह दिखाया नहीं जा सकता। बस इतना ही। इस पर उपाय क्या है?

२१. श्रम-चलन

विनोबा जी कहते हैं, श्रमचलन जारी किया जाना चाहिए। सिक्कों पर रुपया, आना, पैसा न लिखकर दिन, घण्टे, मिनट लिखा जाना चाहिए। एक गुण्डी सूत कातने में दो घण्टे लगते हैं। इतने सूत के लिए रुई तैयार करने में एक घण्टा लगता है। इस तरह एक गुण्डी की कीमत हुई तीन घण्टे। बुनकर की एक गज खादी की कीमत इस हिसाब से पन्द्रह-सोलह घण्टे होगी। किसी चीज को तैयार करने में सामान्य रूप से जितने घण्टे काम करना पड़ता है, उतने घण्टे ही उस चीज की कीमत माने

देता है। 'तुम जो फीस लेते हो, क्या वह उचित है ?' और फिर वह 'अन्य वकीलों को देखते हुए मैं अच्छा ही हूँ' यह सोचकर अपने मन को संतोष दिला देता है। फिर भी उसे सपूर्ण समाधान और आत्मविश्वास नहीं प्राप्त होता।

इस प्रकार ये भाव—पदार्थों के और मनुष्यों के—जॉच और खींचातान से ही निश्चित करने पडते हैं। सुव्यवस्थित समाज मे इस प्रकार निश्चित की हुई दरें कुछ समय गतानुगतिकत्व से प्रचलित रहती हैं, फिर जैसी जो कठिनाइयाँ उत्पन्न होतीं या परिस्थिति मे परिवर्तन होता है तदनुसार इनमें घट-बढ़ की जाती है। यह सब कुछ ठेलकर चलाया जाता है, न्यायनीति के सिद्धान्तों का अनुसरण करके नहीं।

फिर एक बडी कठिनाई यह है कि पुराने समाज के पुराने संदर्भ में ये दरें चलती थीं, पर अब नये समाज के नये सदर्भ मे भी क्या ये ऐसे ही चल सकती हैं ? अग्रेजी राज्य के रिवाज स्वराज्य में भी वैसे ही चलें, यह ठीक नहीं। नव रचना प्रत्येक अंग-प्रत्यग मे संचरित होनी चाहिए। इसका सुनिश्चित और तत्त्वशुद्ध मार्ग क्या है ?

यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि हम मुख्यतः मानसिक समता के इच्छुक हैं। स्थूल, गणितात्मक समता का कोई आग्रह नहीं है। निरलस, निर्व्यसन, मितव्ययी मनुष्य अधिक सुखपूर्वक रह सके और व्यसनाधीन, आलसी, फजूल-खर्च करनेवाला मनुष्य दरिद्रता भोगे, तो इसमें खेद करने की कोई बात नहीं। समता का अर्थ है समान अवसर। इस अवसर से भिन्न-भिन्न परिमाण में लाभ उठाने से जो गुणमूलक विषमता उत्पन्न होगी, वह मानव प्रगति में उपकारक ही होगी। समता का यह अभिप्राय नहीं कि सब की रुचि सम हो। कोई अपनी रुचि के अनुसार मकान बनवाने में अधिक खर्च कर सकता है, कोई

रहता है। मनुष्य हो तो क्या और पदार्थ हो तो क्या, उचित दर कैसे निश्चित की जाय ? आज एकादशी है, हजार आदमी फलाहारी हैं, पर केला ८०० मनुष्यों की माँग पूरी करनेभर का है। ये केले किन ८०० को दिये जायँ या समूचे हजार मनुष्यों में हिसाब से बाँट दिये जाँय ? निश्चित गणना और वितरण कोई कैसे करे ? जिनकी जरूरत अधिक हो, उन्हें ही चीज मिलनी चाहिए, यह सही है, पर जरूरत का निश्चय कैसे किया जाय ? केला कौन व्रत के लिए चाहता है और कौन केवल रसास्वाद के लिए, यह कैसे निश्चित किया जाय ? जरूरत अल्पाधिक हो सकती है। इसका तारतम्य कैसे जाना जाय ? अतः उपाय इसमें यही है कि केले का अधिक मूल्य देने को जो तैयार हो उसकी जरूरत अधिक समझी जाय। अर्थात् नीलाम को ही बिक्री की व्यवहार्य और उचित पद्धति मानना चाहिए। बाजार-भाव ऐसे ही प्रत्यक्ष या तात्कालिक रूप से न सही, पर अप्रत्यक्ष, अमार्गवर्ती और सुदीर्घ नीलामों मे ही चढ़ते, उतरते और स्थिर होते हैं। कभी विक्रेता नीलामों से भाव ऊँचा करते हैं, तो कभी ग्राहक 'चौकसी' रखते हुए उतरते नीलाम जारी करते हैं। पर दोनों ही तरफ नीलाम ही दर निश्चित करने का कारण होता है।

मनुष्य की दर भी ऐसी ही खींचातान से निश्चित होती है। मैट्रिक को ५० रु० और बी० ए० को १५० रु० क्यों ? अमुक वकील की फीस हजार रु० क्यों ? इसलिए कि उस योग्यता का वकील कम कीमत में नहीं मिलता। उसके काम की कीमत निश्चित करने का कोई भी बुद्धिगम्य साधन हमारे पास नहीं है। तथापि हममें और उसके मुवक्किल के रहन-सहन में जो अन्तर है, वह दृष्टि में गड़ता है। इससे मन में यह शंका उठती है कि स्थूल दृष्टि से क्या उसका काम इतना मूल्यवान है ? दूसरे क्या सोचते हैं इसे छोड़िये, पर पापभीरु वकील का मन स्वयं ही इसे सोच में डाल

देता है। 'तुम जो फीस लेते हो, क्या वह उचित है ?' और फिर वह 'अन्य वकीलों को देखते हुए मैं अच्छा ही हूँ' यह सोचकर अपने मन को संतोष दिला देता है। फिर भी उसे संपूर्ण समाधान और आत्मविश्वास नहीं प्राप्त होता।

इस प्रकार ये भाव—पदार्थों के और मनुष्यों के—जॉच और खींचातान से ही निश्चित करने पडते हैं। सुव्यवस्थित समाज मे इस प्रकार निश्चित की हुई दरें कुछ समय गतानुगतिकत्व से प्रचलित रहती हैं, फिर जैसी जो कठिनाइयॉ उत्पन्न होतीं या परिस्थिति में परिवर्तन होता है तदनुसार इनमें घट-बढ की जाती है। यह सब कुछ ठेलकर चलाया जाता है, न्यायनीति के सिद्धान्तों का अनुसरण करके नहीं।

फिर एक बडी कठिनाई यह है कि पुराने समाज के पुराने संदर्भ में ये दरें चलतीं थीं, पर अब नय समाज के नये संदर्भ मे भी क्या ये ऐसे ही चल सकतीं हैं ? अंग्रेजी राज्य के रिवाज स्वराज्य में भी वैसे ही चलें, यह ठीक नहीं। नव रचना प्रत्येक अंग-प्रत्यग में संचरित होनी चाहिए। इसका सुनिश्चित और तत्त्वशुद्ध मार्ग क्या है ?

यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि हम मुख्यतः मानसिक समता के इच्छुक हैं। स्थूल, गणितात्मक समता का कोई आग्रह नहीं है। निरलस, निर्व्यसन, मितव्ययी मनुष्य अधिक सुखपूर्वक रह सके और व्यसनाधीन, आलसी, फजूल-खर्च करनेवाला मनुष्य दरिद्रता भोगे, तो इसमें खेद करने की कोई बात नहीं। समता का अर्थ है समान अवसर। इस अवसर से भिन्न-भिन्न परिमाण में लाभ उठाने से जो गुणमूलक विषमता उत्पन्न होगी, वह मानव प्रगति में उपकारक ही होगी। समता का यह अभिप्राय नहीं कि सब की रुचि सम हो। कोई अपनी रुचि के अनुसार मकान बनवाने में अधिक खर्च कर सकता है, कोई

भोजन-पानी पर, कोई कपड़े-लत्ते पर। समता विविधता में बाधक नहीं होती। विविधता और विषमता में अन्तर है। विविधता निसर्ग प्रेरित और आनन्ददायिनी है। विषमता मनुष्यकृत और वैषम्यजनक है। वयस्, तबीयत, विशेष आवश्यकताएँ, विशेष अधिकार इत्यादि के अनुसार यदि कहीं कुछ विषमता देख भी पड़े, तो कोई हर्ज नहीं है। एक ही परिवार के बच्चे, बड़े-बूढ़े, बीमार, विशेष कष्ट या जोखिम के काम करनेवाले आदि को ही नहीं, बल्कि ज़िद्दी और झगड़ालू व्यक्तियों को भी विशेष रियायतें मिल जाती हैं। परस्पर मेल और समानता जहाँ तक बनी हुई है, वहाँ तक ये विशेष रियायतें भी समता में खप जाती हैं।

पर अभी जैसी हालत है, उसमें अपने समाज में संतोष और मेल की बहुत कमी जान पड़ती है। इसलिए प्रत्यक्ष स्थूल समता की भी विशेष आवश्यकता है। अस्तु।

२३. मानवता का अवमूल्यन

मनुष्यों के बाजार-भावों में विशेष योग्यता के मनुष्यों की दरें तो जैसे बेहिसाब बढ़ती हैं, वैसे ही सामान्य मजदूरों, मुहर्रिरों की बेहद घटती भी हैं। इससे मनुष्यता का अवमूल्यन होता है। सभी जानते हैं : २ स्त्रियाँ = १ मजदूर; ३ मजदूर = १ सरदार; ३ सरदार = १ ओवरसियर; ३ ओवरसियर = १ सहकारी इंजीनियर; ३ सहकारी इंजीनियर = १ मुख्य इंजीनियर, ऐसा हिसाब व्यवहार में देख पड़ता है। सच पूछिये तो जितनी आवश्यकता इंजीनियरों की होती है, उतनी ही मजदूरों की भी होती है। फिर इनके वेतनों में ऐसा [illegible] का-सा अन्तर क्यों ? यह स्पष्ट ही शोषण है।

२४. स्वाभिमान और स्वतन्त्रता

पर इस पर कोई तात्कालिक इलाज हमें नहीं सूझता। लोक-शिक्षा और जनशक्ति का धीरे-धीरे तय होनेवाला मार्ग ही सामने दीखता है। मजदूर अपने श्रम मिट्टी के मोल बेचने से इनकार करें। समता स्थापित होने के लिए दलित वर्ग में समता की आकांक्षा और स्वाभिमानवृत्ति का जागना आवश्यक है। नाई शिक्षक से यह कहे कि 'मैं आपके बच्चे के बाल काटूँ तब तक आप मेरे बच्चे को गणित सिखाइये। मेरे समय और कौशल को आप अपने समय और कौशल से हीन न समझें। अन्यथा आप ही अपने बच्चे के बाल काट लें और मैं स्वयं ही अपने बच्चे को जो कुछ सिखा सकता हूँ सिखा लूँगा।'

कन्या का पिता वर के पिता से यह कहे कि 'मैं ५०० रु० दहेज देकर कन्यादान नहीं करूँगा। मुझे अपनी कन्या रुपये पर नहीं बेचनी है। मेरी कन्या के बदले में आप मुझे अपना लड़का दें। आपका लड़का, मेरी लड़की; विवाह का यह सौदा दोनों के लिए समान है। अन्यथा रुपये के बल पर आप दस लड़कियाँ भी खरीद सकते हैं, पर मेरी लड़की इतनी सस्ती नहीं है।'

जहाँ समता और सहकारिता का बर्ताव हो वहाँ दलित अपने हाथ-पैरों को स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने दें। पर जहाँ विषमता और शोषण की शंका हो, वहाँ दूसरों के लिए कष्ट करना अस्वीकार कर अपने ही खेत या उद्यम में दूनी तिगुनी मेहनत करें। इसके लिए यह आवश्यक है कि इनके अपने खेत या ग्रामोद्योग हों। भूदान-आन्दोलन इसी दृष्टि से चल रहा है।

अब जो लोग आगे बढ़े हुए हैं उन्हें भी योग्य शिक्षा मिलनी चाहिए और उनका हृदयपरिवर्तन होना चाहिए। जो लोग अनजान हैं उनकी कठिनाइयों से अनुचित लाभ उठाने की

अपेक्षा उनके शिक्षक और सहकारी बनने में ही अधिक गौरव है, इसका ध्यान उन्हें दिलाना होगा।

यही नहीं, बल्कि जिसे अपना स्वातन्त्र्य और स्वाभिमान प्यारा है वह दूसरों के स्वाभिमान का भी उतना ही खयाल रखेगा। कोई भिखारी यदि मेरा जूठा पत्तल चाटना चाहेगा, तो मैं स्वयं ही उसे ऐसा करने न दूँगा। मैं जैसे जान निकलते भी उसका जूठा पत्तल नहीं चाट सकता, वैसे ही मैं उसे भी उसकी जान निकली जाती हो, तो भी अपना जूठन न चाटने दूँगा। स्वातन्त्र्य, स्वाभिमान, मानवता के मूल्यों का यही चमत्कार है कि अन्य किसीके भी स्वाभिमान पर चोट आये, तो उससे मेरे स्वाभिमान पर चोट आती है। मेरे भाई की लाचारी मेरी ही लाचारी है और मनुष्य मात्र मेरा भाई है। बैल जूठन खा ले, मैला भी खा ले, तो मुझे उससे दुःख नहीं होता, पर मनुष्य की लाचारी मैं नहीं सह सकता।

इंग्लैंड-अमेरिका में आज से सौ सवा-सौ वर्ष पहले गुलामी की प्रथा उठा दी गयी और गुलामों को, उनकी इच्छा थी या न थी, छोड़ दिया गया या भगा दिया गया। ऐसा करने में यही ध्यान था। सभी गुलाम मुक्त होने के लिए आतुर थे यह बात नहीं, कुछ तो गुलाम के नाते ही निश्चिन्त रहकर जीना चाहते थे। तथापि स्वतन्त्रता उनके गले मढ़ी गयी। वे अपनी गुलामी से भले ही सन्तुष्ट रहे हों, पर अन्य लोग उनकी गुलामी से सन्तुष्ट नहीं थे।

२५. निःशूद्र पृथिवी

इसीलिए हमें भी अब बतलाया हुआ काम करनेवाले और काम बतलानेवाले, इस प्रकार का भेद नहीं रखना है। पहले अन-जान, अविकसित मानव जातियाँ थीं और इस कारण गुलाम

रखने, दास-दासी रखने की प्रथा थी। हिन्दू-समाज में शूद्र वर्ण भी एक प्रकार से अबोध, दुर्बल, परतन्त्र और परावलम्बी वर्ग है। पर अपने नव समाज में ऐसे वर्ग के लिए कोई स्थान नहीं है। अर्थात् अब कोई शूद्र बना रहे यह ठीक नहीं। (यहाँ 'शूद्र' शब्द का प्रयोग मूल चातुर्वर्ण्य की रचना करनेवालों के अभिप्रेत उदात्त अर्थ में नहीं, बल्कि शूद्र सम्बन्धी जो सामान्य भाव देखने में आता है, उसीको सामने रखकर किया गया है।)

तथापि आजकल शारीरिक श्रम से भागनेवाला एक नवीन ही शूद्र-वर्ग तेजी के साथ बढ़ता जा रहा है और यह भय होने लगा है कि कहीं सारा देश ही शूद्रमय न बन जाय। नौकरी शूद्र वृत्ति ही है। सरकार के नित्य नये बढ़नेवाले विभाग और प्रत्येक विभाग का बढ़ता हुआ नौकर-वर्ग और इन नौकरों को मिलनेवाला नियमित वेतन और पेनशन देखते हुए सभी सरकारी नौकरी को जीवन का बीमा समझने लगे हैं और ऐसी किसी नौकरी के रिक्त स्थान की प्रतीक्षा में सैकड़ों प्रार्थी हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं। इसके सिवा ग्रामोद्योग का स्थान केन्द्रित, संगठित और यान्त्रिक उद्योगों ने ले लिया है, जिससे स्वतंत्र वृत्तिवाला कारीगर वर्ग भी अपने नष्टप्राय धन्धों को छोड़कर कारखानों में मजदूर बनकर रहता है। यातायात और विविध यात्राएं जैसे-जैसे बढ़ती जा रही हैं, वैसे-वैसे मोटर-बसें, रेलगाड़ियाँ और विमान भी बड़ी-बड़ी कंपनियों की ओर से अथवा सरकार की ओर से अधिकाधिक संख्या में चलाये जा रहे हैं और इनमें लाखों नौकर भरती किये जा रहे हैं। व्यापार भी उसी प्रकार बहुत बड़े परिमाण पर चलता है और उसमें भी गुमाश्तों का वर्ग बड़ी संख्या में लगा रहता है। कृषि का विकास जैसे-जैसे होने लगता है और उसमें यंत्रों से काम लिया जाता है, वैसे-वैसे खेती भी बड़े परिमाण पर मजदूरों से करायी

जाती हैं। चीनी के कारखाने आजकल बडे काश्तकार बन गये हैं और दूर-दूर के किसान भी उनके खेतों पर मजदूर बनकर काम करने एकत्र होते हैं। यह सारी बाढ नदी की बाढ जैसी अकस्मात् हुई है और उसमें स्वतंत्र वृत्तिवाले ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य भी बह चले हैं और डिग्रेड (याने ग्रेड कम) होकर नौकर याने शूद्र बन गये हैं। पहले मजदूर ही मालिक हुआ करता था, पर अब अधिकाश लोग नौकर और कुछ थोडे-से मालिक बन गये हैं। समाज के दो टुकडे हो गये हैं। पहले जो स्वयनियुक्त उत्पादक थे, वे अब कारखाने की मशीन के पुर्जे बन गये हैं। शिक्षा के विस्तार के साथ इस नौकरी-निष्ठा का प्रसार हो रहा है। इसमें समाज स्वास्थ्य की हानि तो है ही, साथ ही मानवता का भी ह्रास है। पहले की पृथक स्वतंत्रता नष्ट हुई, पर उसके स्थान में सांघिक स्वतन्त्रता नहीं आ पायी। जैसे-जैसे अकेले स्वतंत्र रूप से करने के धधों के स्थान में बडी-बडी सख्याओं के द्वारा चलनेवाले उद्योग आते हैं, वैसे-वैसे स्वतन्त्रता भी सांघिक होनी चाहिए अर्थात् सघटित उद्योग सहकारिता से चलने चाहिए। पर सामर्थ्य की कमी और परस्पर अविश्वास होने के कारण कारीगर और खेतिहर पूँजीपति के मजदूर बनकर रहना ही पसद करते हैं। भारत में पहले असख्य प्रादेशिक राज्य थे। अब अखिल भारत का एक सघ-राज्य बना है। पर इसके बनने के पूर्व इन सारे राज्यों को ब्रिटिश आधिपत्य के कोल्हू में से पिलकर निकलना पडा है। आज उद्योगों की वही अवस्था हुई है। हम लोग जैसे ब्रिटिशों का प्रभुत्व स्वीकार करके भी मन में उन्हें सरापा ही करते थे, वैसे ही मजदूर भी पहले नौकरी पाने के लिए मिन्नत-आरजू करते हैं, पर नौकरी पा लेने पर मालिक के नाम को रोया करते हैं। यह उनका दोष नहीं, मालिक मजदूर के नाते का ही दोष है। ब्रिटिश और भारतीय

का शास्ता-शासित-सम्बन्ध जैसा अनुचित था, वैसा ही यह मालिक-मजदूर-सम्बन्ध भी अनुचित है और उसमें से अविश्वास और तिरस्कार, शोषण, जॉगरचोरी, हड़ताल और वर्ग-विग्रह आदि अनर्थपरंपरा ही चलती है। अतः यह मूल दोष ही हटाया जाना चाहिए। अर्थात् मजदूर स्वयंनियुक्त और आत्म-निर्भर हो। केंद्रित उद्योगों के इस जमाने में वह स्वयं अकेला न रहे, सामुदायिक बने। समुदाय के स्वयंनियुक्त होने का मतलब यह हुआ कि वह सहकारिता के साथ काम करे। मजदूर कारखानों में, खेतों पर और दूकानों में जो एकत्र हों, समता, सहकारिता और संयुक्त उत्तरदायित्व के नाते एकत्र हों, यही सच्चा मार्ग है। मैनेजर, इंजीनियर, मुहर्रिर, सरदार आदि भी मजदूर ही हैं। उन्हें भी चाहिए कि सहकारिता का यह नाता स्वीकार करें। सामान्य मजदूरों की अपेक्षा उनका मेहनताना अधिक हो या न हो; कितना हो, यह परस्पर विचार-विनिमय से निश्चित किया जाय।

यह सब प्राप्त करने के लिए वरिष्ठ वर्ग में नम्रता आनी चाहिए और कनिष्ठ वर्ग की भी योग्यता याने बुद्धि और योजना-शक्ति, साथ ही उदारता याने उत्तरदायित्व की पहचान बढ़नी चाहिए। इसमें दोनों पक्षों को कुछ कष्ट होगा, पर कष्ट के बिना कोई समृद्धि नहीं होती।

२६. पूँजीपति भी दयापात्र ही

समाज के इस विभाजन में हम लोगों की सहानुभूति का झुकाव स्वभावतः ही कनिष्ठ याने मजदूर वर्ग की ओर होता है। तथापि पूँजीपतियों के लिए भी हमारे चित्त में सहानुभूति होनी चाहिए। संतों का यही लक्षण है कि उनके लिए राजा-रंक दोनों ही समान होते हैं। रंक पर दया हर किसीको आती

है। पर सच्ची दृष्टि संतों को प्राप्त होती है, उन्हें राजा पर भी दया ही आती है। 'Uneasy lies the head that wears the Crown' अर्थात् राजा के भाग्य में सुखपूर्वक सोना भी बदा नहीं होता, जो गरीब से भी गरीब को यथेष्ट प्राप्त होता है।

सम्भव है कि पूँजीपति ध्येय-दर्शी लोग होते हैं और ध्येय उन्हें आकर्षित किये रहता है। नव-निर्माण में उनका चित्त लगा रहता है। किसी कूपर या किर्लोसकर के मन में यह बात आती है कि हम लोग नये-नये औजार सब विदेशी ही खरीदते हैं, इसके बदले यदि विदेशों से नितान्त आवश्यक यंत्रभर मँगाकर यहीं अपना कारखाना खोलें, तो किसानों को सस्ते औजार मिल सकेंगे और इन औजारों को बनाने की मजदूरी भी उन्हें मिलेगी। आसपास के श्रमिक यदि उनसे जिम्मेदारी के साथ सहकारिता करने को तैयार हों, तो उन्हें अलग रखकर अपने ही हाथ में मालकियत रखना उनकी हवस हो, ऐसी कोई निश्चित बात नहीं है। पर जहाँ हर कोई वेतन ही माँगता है और समूचे धन्धे के लाभ-हानि में हाथ बँटाने को तैयार नहीं है, वहाँ मालिक बने रहने के सिवा उनके लिए और कौन-सा उपाय है? मजदूरों के सहकार्य से कोई कारखाना चलाने की बात जहाँ एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाती, वहाँ मालकियत स्वयं स्वीकृत कर काम चलाये चलना अपरिहार्य होता है। आज भी आदिवासी तथा अन्य पिछड़े हुए वर्ग के नाम पर जो सहकारी खेती या जंगल कामगार समितियाँ चलती हैं, उनके वास्तविक चालक अपने को सेवक कहानेवाले लोग ही होते हैं। सारा झंझट उन्हें ही उठाना पड़ता है। आदिवासी केवल रोज की मजदूरीभर जानते हैं। ऐसा किये बिना काम भी नहीं चलता। इसीमें से धीरे-धीरे आगे का मार्ग निकालना होगा। मजदूर सहकारिता के नाते

मालिक बनें, तो उनकी उन्नति हो सकती है, मालिकों को भी छुटकारा मिल सकता है।

मालकियत जैसे शोषण का प्रयत्न है, वैसे ही मजदूरी भी शोषण का ही प्रयत्न है। मजदूर अपना वेतनभर चाहता है। इसके पीछे यदि मालिक को घाटा हुआ और उसका कारखाना नीलाम होने की नौबत आयी, तो मजदूर कहता है कि 'नीलाम मे जो कारखाना लेगा उसके यहाँ मैं नौकरी कर लूँगा।' वेश्या कभी विधवा नहीं होती, वह तो धर्मपत्नी के ही भाग्य में है। मालिक-मजदूर की कुश्ती है, दोनों एक दूसरे को चूस लिया चाहते हैं। इसमें बहुधा मालिक की ही बन आती है, कभी मजदूर का भी लाभ होता है।

२७. समाज-संघटन

मनुष्य सामाजिक याने समाज-प्रेमी और समाजावलंबी प्राणी है। सियार, कुत्ते, हिरन एकाकी जीवन सुखपूर्वक जी सकते हैं। मनुष्य के लिए यह संभव नहीं है। उसकी आवश्यकताएँ इतनी विविध हैं कि उनकी पूर्ति के लिए उसे सारे जगत् के लोगों के साथ सहकार्य स्वीकार करना ही पड़ता है। अर्थात मनुष्यों को एकत्र होना पड़ता है, एक दूसरे का आश्रय लेना पड़ता है। कुटुम्ब, गाँव, बाजार, राष्ट्र और राष्ट्रसंघ बनाने ही पडते हैं। इस प्रकार मनुष्यों का हर घड़ी हर तरह से जो संगम हुआ करता है, उसका सूत्र स्वार्थ नहीं सेवा, लूट नहीं दान होना चाहिए। जब कोई मनुष्य मुझसे मिलता है तब मेरे मनमे 'इससे मेरा क्या काम बन सकता है ?' ऐसा विचार न उठना चाहिए, बल्कि 'इसके लिए मैं क्या कर सकता हूँ ? ईश्वर की इस मूर्ति की पूजा मेरे हाथों किस प्रकार बन सकती है ?' ऐसा विचार उठना चाहिए। मेरे घर कोई आ जाय, तो 'मैं इसे क्या

दे सकता हूँ ?' इसकी चिन्ता होनी चाहिए। दूसरे के घर जाते हुए 'मैं उसके लिए कौन-सी भेंट ले जाऊँ' इसका ध्यान होना चाहिए। यही संस्कृति है। मेरे इष्ट-मित्र मुझे भोजन के लिए निमंत्रित करते हैं। मेरे लिए विशेष प्रकार का भोजन भी प्रस्तुत करते हैं। पर मेरा उनके यहाँ जाना दावत उड़ाने के लिए न हो। अपने घर में जो चाहूँ जीभर खा लूँ, पर दूसरों के यहाँ मिताहार ही करना होता है। भोजन केवल स्नेहालाप का निमित्त होना चाहिए।

'सार संसार का पर-उपकार'। (सेनापति बापट) 'पर' कहते हैं श्रेष्ठ को, परमेश्वर का वह प्रतिनिधि है। उपकार कहते हैं समीप लाने को, अपनाने को, पर-उपकार ही ईश्वर से नाता जोड़ने का मार्ग है।

एक देश के लोग दूसरे देश में अथवा एक प्रदेश के लोग दूसरे प्रदेश में जायँ, धन कमाकर अपने घर लाने के लिए नहीं, बल्कि वहाँ के लोगों की सेवा करने, उस सेवा के लिए पर्याप्त निर्वाह-व्यय लेने और जो कुछ बच जाय, उसका वहीं सद्व्यय करने के लिए।

इस प्रकार एकत्र होना ही समाज घड़ना है। भीड़-भाड़ अलग चीज है, समाज अलग। रेलगाड़ी में होनेवाली भीड़ समाज नहीं है। वहाँ तो हर किसीकी अन्य सबके साथ व्यस्ताव्यस्त स्पर्धा ही चलती है।

अभी हम लोगों का जो समाज है, वह रेलगाड़ियों में होनेवाली भीड़ जैसा ही स्पर्धाकुल है। दूसरे पर आनेवाला संकट मेरे लिये अवसर बन जाता है, यही इसका सूत्र है। कारण भूमि पर किसीका स्वामित्व होना अन्य ग्रामवासियों की वंचना ही है। ब्याज, भाड़ा, खण्ड इत्यादि एक-दूसरे को कठिनाई में डालकर ही हम लोग प्राप्त किया करते हैं। मालिक-मजदूर की कुश्ती तो

सर्वत्र ही है। स्पर्धा का यह स्थान सेवा और आत्मार्पण को मिलना चाहिए। आपका संकट मेरा संकट है और मेरा सुअवसर आपका भी सुअवसर।

इसमें व्यवहार और तर-तम भाव भले ही रखें, 'जस को तस' की नीति भी चाहे बरतें, पर अपना झुकाव देने की ओर हो, लेने की ओर नहीं।

यही सच्चा मानव-जीवन है। विश्व-शान्ति की यही कुंजी है। शान्ति जहाँ मिली, तुष्टि और पुष्टि भी आप ही आ जायँगी।

२८. ग्रामदान और अर्थशुचिता

हम लोग जो अर्थशुचिता और शोषण-मुक्त समाज-व्यवस्था प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, वह बहुत कुछ ग्रामदान से सिद्ध हो जाती है।

ग्रामदान मे जमीन की मालकियत पर कोई दावा नहीं करता, इससे शोषण का मुख्य मूल ही नष्ट हो जाता है। अन्य आर्थिक व्यवहार भी शोषण-मुक्त हो सकते हैं। ग्रामदान सर्वोदय-समाज का अपने बूते का क्षेत्र है। इसमें कोई किसीका प्रत्यक्ष शोषण करनेवाला है ही नहीं, पर जिसे हम अप्रत्यक्ष शोषण पहले कह आये हैं (जिसका स्पष्ट निर्देश नहीं किया जा सकता), वह भी सम्भवतः यहाँ न हो। अर्थात् विशिष्ट श्रेणी की उद्योगिता, निर्व्यसनता और मितव्ययिता आदि का पालन करनेवाले विभिन्न पेशों और जाति-धर्मों के ग्रामवासियों का जीवन-मान और तत्फलस्वरूप संस्कृति-मान समान ही होगा। कुछ असमानता रह जाय, तो सबकी सम्मति होने से ही रह सकती है। ब्राह्मण और चमार, शूद्र और मातंग, तेली और दर्जी, जुलाहा और कुंभार आदि के भिन्न-भिन्न व्यवसाय बने रहेंगे; पर उन सबके रहन-सहन में विविधता भले ही रहे, विषमता न रहेगी।

कोई दूध-घी-सेवन करेगा, तो कोई मछली खायेगा। कोई एकादशी-व्रत रहेगा, तो कोई शिवरात्रि-व्रत। यह तो हो सकता है, पर किसीके यहाँ अन्न बरबाद हो और किसीके यहाँ चूल्हा भी न जले, यह नहीं हो सकता। कोई धोती पहनेगा, कोई पतलून; पर यह नहीं होगा कि किसीके घर के फटे-पुराने कपड़े कोई दूसरे घरवाले पहनें। लोग एक-दूसरे के यहाँ काम में मदद करने आ सकते हैं, पर यह जाना एकतरफा न होगा, पारस्परिक होगा। इसमें मालिक-मजदूर या श्रेष्ठ-कनिष्ठ का भेद न रहेगा, अड़ोस-पड़ोस का नेह-नाता रहेगा। गाँव में कोई किसीका नौकर न होगा, सब संगी-साथी ही होंगे।

पूर्व काल में भी गाँव संघटित था। परस्पर समत्व और पड़ोस का नेह-नाता था, संतोष और मेल था, पर इन सबमें विषमता थी। कारण वह राजतंत्र का समय था, भू-पतियों का जमाना था। अब राजतंत्र समाप्त हो गया है, लोकतंत्र और लोकनीति का उदय हुआ है। अब ग्राम-संस्था का निर्माण लोकनीति के अनुसार करना होगा, तभी वह सुखद और स्थायी होगा। इस लोकनीति की नींव होगी भूमि का तत्त्वतः विश्वार्पण और व्यवहारतः ग्रामार्पण।

किसान ग्राम-समाज का मानदण्ड (नापने की लाठी) रहेगा। और बढ़ई, लुहार, कुंभार, चमार तथा तेली, तमोली आदि गाँव-काम करनेवालों का जीवन-मान किसानों के समान रहेगा। मटके, चप्पल, सूप, चलनी, धुनाई, बुनाई आदि की दरें गाँव की बाजार-दर से निश्चित रहा करेंगी। ये गल्ले के रूप में हो सकती हैं अथवा रोकड़ के रूप में। इन दरों से किस प्रकार व्यवहार चलता है, यह देखकर उनमें यथायोग्य संशोधन होता रहेगा। 'व्यवहार चलने' का मतलब यह है कि इन दरों पर काम करनेवाला श्रमिक सामान्य रूप से काम करके गाँव के

सामान्य जीवन-मान के साथ रह सके। गॉंव का ही कोई बुद्धिमान् मनुष्य वैद्यक की शिक्षा पाकर वैद्य का काम कर सकता है। वैद्य को अनायास ही विशेष सम्मान प्राप्त होगा। गॉंव के ही कुछ विद्वान् मिलकर विद्यालय चलायेंगे। 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' इस न्याय से ग्रामवासी उनका विशेष आदर करेंगे, पर उनका अन्न-वस्त्र और घर-बार अन्यों से भिन्न न होगा। इसी प्रकार बढ़ई और लुहार के काम में, चित्रकला में, इतना ही नहीं, बल्कि पेड़ पर चढ़ने, नदी में तैरने, गहराई में गोता लगाने में जो लोग विशेष निपुण होंगे, गॉंव के लोग उनकी बड़ी इज्जत करेंगे। विशेष अवसरों पर उन्हें ढाल या शाल भी पारितोषिक रूप में दी जा सकेगी, पर नकद रुपया अधिक मिलने की आशा न रहेगी, न उनकी वैसी अपेक्षा ही होगी।

ग्रामवासियों की मुख्य-मुख्य आवश्यकताएँ—अन्न, वस्त्र, घर, रक्षा, शिक्षा—गाँव के ही साधनों और सहकार्य से पूरी की जायँगी। खास-खास चीजें बाहर से मँगानी पड़ेंगी। उसी प्रकार गॉंव का अतिरिक्त उत्पादन बाहर भेजना पड़ेगा। यह लेन-देन गॉंव की संयुक्त मालकियतवाले भण्डार की मार्फत होगा। इस व्यवहार में ऐसी शंका उठ सकती है कि हम दूसरे गॉंवों का या दूसरे गॉंव हमारे गॉंवों का शोषण तो नहीं कर रहे हैं। पर ऐसी शंका बाहरी व्यवहार के ही सम्बन्ध में रहेगी। गॉंव में अन्तर्गत शोषण नहीं होगा। कभी अगर ऐसा होता देख पड़े, तो तुरत उसका सुधार किया जा सकेगा।

गॉंव एक बड़ा कुटुम्ब या आश्रम जैसा ही है। मूलतः हमारे गॉंव परस्पर के आश्रय तथा आश्रम-भावना से ही बसे। पहले मनुष्यों की बस्ती बिखरी हुई थी। बहुत-सी जमीन घने जंगलों में बँटी थी या परती पड़ी हुई थी। किसी गॉंव की बस्ती जब बढ़ जाती, तब कोई पुरुषार्थी मनुष्य दूसरी तरफ नया उपनिवेश

बसाने का उद्योग करता। पीने के लिए तथा खेती-बारी के लिए जल की सुविधा देखकर ही नये उपनिवेशों के स्थान निश्चित किये जाते। पर कहीं भी अकेले-दुकेले जाकर बसना या खेती करना सम्भव नहीं था। इसलिए उसे *संगी-साथी* जुटाने ही पड़ते थे। और केवल खेती से मनुष्य का काम नहीं चलता। घर, कपड़ा, जूता, वर्तन, दवा इत्यादि अनेकानेक वस्तुओं की उसे आवश्यकता होती है; इसलिए इन सब वस्तुओं को निर्माण करने का कौशल रखनेवाले संगी-साथियों को अपने साथ लेना पड़ता था। अर्थात् नवीन उपनिवेश के लिए बढ़ई, लुहार, नाई, धोबी, तेली, चमार, महार, मातंग, पुरोहित, भगत, बुनकर, दर्जी इत्यादि विविध पेशों के लोगों की आवश्यकता होती थी। ऐसे सब लोगों को *मनाकर, संग लेकर, परस्पर के आश्रय से ही नवीन गॉव* बसाये गये और परस्पर के सहकार्य से ही आज तक वंशानुवंश बसे हुए हैं। कोकण-प्रदेश के गॉव निसर्ग-निर्मित गढ़ जैसे होते हैं; अन्यत्र ऐसे गॉव हैं, जिनके चारों तरफ प्राचीर उठायी गयी है।

इस प्रकार प्रत्येक गॉव कोई दुर्ग या आश्रम अथवा एक *विशाल कुटुम्ब ही है। अब तक ये दुर्ग एक-एक दुर्गपाल या* किलेदार याने गॉव के मुखिया, वसूली के ठेकेदार या महाल के मुख्य अधिकारी की सत्ता के अधीन रहे। अब इसी संघटना का समत्वप्रधान नवीन संस्करण करना होगा।

२९. ग्राम-संकल्प

समता लानी होगी। इसी प्रकार पहले डाकुओं और लुटेरों से गॉवों की रक्षा के लिए जैसे उनके चारों ओर किलेबन्दी हुआ करती थी, वैसे ही अब आधुनिक औद्योगिक और व्यापारिक आक्रमण के निवारण के लिए आर्थिक किलेबन्दी का होना आवश्यक है। तभी ये गाँव ठहर सकेंगे। आजकल यातायात के

साधन सुलभ और शीघ्रगामी हो गये हैं। यन्त्रशक्ति से विविध उत्पादन भी विपुल और सस्ते हो रहे हैं। केन्द्रित यन्त्रोद्योग की स्पर्धा के आगे ग्रामोद्योग एक-एक करके तीव्र वेग से नष्ट हो गये। गाँवो में खेती ही एकमात्र उद्योग रह गया। पर खेती अकेली ठहर नहीं सकती, जैसे मनुष्य एक पैर पर अधिक समय तक खड़ा नहीं रह सकता। खेती को ग्रामोद्योग का संग मिलना ही चाहिए। ग्रामोद्योग नष्ट हो जायँ, तो खेती भी लड़खड़ा जायगी और गाँव उजड़ जायँगे। इसलिए कारखानो के और जागतिक व्यापार के आक्रमण के निवारणार्थ गाँवो की मजबूत आर्थिक किलेबन्दी करनी होगी। इस किलेबन्दी का ही नाम विनोबा ने 'ग्राम-संकल्प' रखा है। ग्राम-संकल्प का अर्थ यह है कि गाँव के लोग एक विचार से यह निश्चय करें कि हम अपने लिए आवश्यक अन्न, वस्त्र, अथवा साबुन, कागज, तेल, दियासलाई, चीनी आदि स्वयं ही उत्पन्न कर उनका उपयोग करेंगे। गाँव के तेली, कुंभार, दर्जी, बुनकर आदि का तिरस्कार कर बाहर का माल, चाहे वह देखने में सुडौल और खरीदने में सस्ता हो, कदापि न लेंगे।

तेली, बुनकर, दर्जी, कुंभार, चमार, खेतिहर आदि समस्त गाँववाले एक-दूसरे के धन्धे चलाने का निश्चय करें, तो गाँव की सम्पत्ति का लुटना बन्द होगा। गाँव की सम्पत्ति गाँव मे ही फैलेगी और आत्मसात् होगी। अर्थात् खादी-ग्रामोद्योग की वस्तुएँ ही ग्रामवासियों को लाभ पहुँचायेंगी और सस्ती पड़ेंगी। और तो क्या—ये सब चीजें उन्हें एक तरह से मुफ्त में ही मिलेंगी, क्योंकि खेती से बचे हुए समय में गाँव के लोग गाँव के ही साधनों से, अन्यथा व्यर्थ जानेवाली शक्ति से, उन्हे निर्माण किये होगे। गाँव एक बड़ा कुटुम्ब है। कुटुम्ब मे परायापन जहाँ आया, वहाँ पति को पत्नी महँगी जँचती है, कमानेवाली स्त्री को

उसका अपना पति भी महँगा मालूम होता है और नौकरी करने-वाले दम्पति को बच्चों की सँभाल करने में पड़ता नहीं पड़ता। इससे संतति-नियमन सस्ता पड़ता है। बात स्पष्ट है, अन्न से विष और जीवन से मृत्यु जब भी सस्ती ही पड़ेगी। ग्रामोद्योगों से गाँवों में जीवन का संवर्द्धन होता है। जहाँ नींद, जम्हाई और सन्नाटा छाया रहता है, वहाँ धुनकी की वीणा, चरखे का बाजा, करघे का खट-खुट और तेल की घानी का कूँ-कूँ स्वर गूँजने लगता है।

ग्राम-संकल्प का अर्थ है 'स्वदेशी'। 'स्वदेशी' याने केवल देशी माल ही नहीं। स्वदेशी का अर्थ है अपनों के लिए अपनत्व—बाप को बाबा और मौसी को मौसी कहना, अपने गँवार भाई-बंधुओं से लज्जित न होकर उनके अभिमानी होना, मेरा देश मुझे प्यारा सही, पर उससे दस गुना प्यारा मेरा अपना गाँव है। माँ को अपना काला-कलूटा, कृश और नटखट बेटा ही जैसा प्यारा होता है, वैसा ही मुझे अपना गँवारू, दुर्लभ, बेडौल, अपढ़, अनजान टेढ़ा गाँव भी प्यारा लगता है। मैं उसी गाँव से अपना परिचय कराना चाहता हूँ। हम लोग अपना परिचय वाजपेयी, कुलश्रेष्ठ, रावत आदि कुलों के नामों से कराते हैं। कुछ लोग पुरोहित, बढ़ई, तेली जैसे जातिवाचक नामों से परिचित होते हैं। पर हमारे द्राविड़, कर्णाटकादि दक्षिणी भाई सूरमंगलम्, नागसंद्र आदि अपने-अपने ग्रामनामों से ही अपना परिचय देते हैं। वहाँ के सभी कुल और जातियाँ अपने ग्रामनाम को आगे रखती हैं। यही यथार्थ 'स्वदेशी' है। गाँववालों के सब गुण-दोष जानते हुए भी उनसे आत्मीयता रखना, उनका गुण-संवर्द्धन और दोष-निरसन करना, यही ग्रामनिष्ठा है। गाँव की सत्ता से बाहर भी किसी सत्ता को श्रेष्ठ न मानना ही ग्राम-शरणता है। इस प्रकार की ग्राम-शरणता ग्राम-स्वराज्य का मूल आधार है।

३०. उदक-शान्ति

भूमि का स्वामित्व और उसके चिरंतन लगान का निरसन, व्याज-भाड़ा आदि का नियंत्रण, ग्रामदान और ग्राम-संकल्प, कारखानों का संचालन इत्यादि का प्रचलन हो जाने से शोषण के मुख्य-मुख्य सब द्वार बन्द हो जायँगे। तब प्रसंगविशेष में शर्त-नामों और लेन-देन की कुछ खिड़कियाँ या दरजे रह जायँगी। ये भी लोक-शिक्षा से धीरे-धीरे मिटेंगी। इससे समाज के आपसी असंतोष के कारण दूर होंगे और परस्पर स्नेह और सद्भाव बना रहेगा। उसीसे फिर मनुष्यों के गुणों का विकसन और सुख-संवर्द्धन साधित होंगे। इस प्रकार अहिंसक समाज की स्थापना होगी, गाँव का गोकुल बनेगा, पृथ्वी का स्वर्ग बनेगा।

पर आज तक हम लोग जो एक-दूसरे का शोषण करते रहे, एक-दूसरे की कठिनाइयों से अनुचित लाभ उठाते रहे, उसकी कटु स्मृति कैसे मिटेगी? उस शोषण से उत्पन्न विषमता और विषमता से उत्पन्न होनेवाले वैमन्य का शमन कैसे होगा?

इसके लिए हम सबको ही—धनिकों और गरीबों को—सामुदायिक प्रायश्चित्त करना होगा। हम सभी उस पाप के भागी हैं। दोष व्यक्ति का नहीं था, उन पद्धतियों का था और उन पद्धतियों को हमने आपने सबने ही माना और चला रखा था। अब हम सब को ही जैसे उन दुष्ट पद्धतियों का त्याग करना है, वैसे ही पूर्वकृत दोषों का हम सबको प्रायश्चित्त भी करना है।

आज हम सब का ही धन—अमीरों का बहुत और गरीबों का थोड़ा—दूषित धन है। भ्रष्टाचार सार्वत्रिक हो गया है। हम सभी उस भ्रष्टाचार के कारण हैं। इसलिए यही उचित है कि कोई किसी पर दोष न लगाये।

पहले ऐसा रिवाज था कि किसीके जनमने या किसीके

मरने पर लगनेवाले अशौच से सारा घर और घर की सभी चीजें अशुचि मानी जातीं और अशौच-काल समाप्त होने पर उस अशुचिता को हटाने के लिए उदक शान्ति की जाती थी। ऐसी ही एक उदक-शान्ति हम लोग भी करें।

इस शान्ति में सब कोई यथाशक्ति दान करें। भूमिवानों को अबाधित स्वामित्व सारी भूमि का ही छोड़ना है, पर इसके सिवा भूमि के कष्टार्जित स्वामित्व और उससे प्राप्त होनेवाले तात्कालिक पोत में से भी जितना सम्भव हो, उतना वे गरीबों को दान कर दें। महाजन का ब्याज एक-बारगी ही बन्द होगा, पर इसके अलावा भी वे असल में भी गरीब ऋणियों को कुछ छूट दे दें। कोई धन-धान्य का, कोई गाय-भैंस का, कोई कपड़ों का, कोई बर्तनों का, कोई मेज-कुर्सियों का, कोई नकदी रुपयों का—इस प्रकार हर कोई कुछ न कुछ दान कर दे। कोई श्रमदान भी करे। मजदूरों ने कभी उचित से अधिक मजदूरी न ली हो या उन्हें न मिली हो, ऐसी बात नहीं है। संक्राति के अवसर पर सधवा स्त्रियाँ कोई न कोई फल या खाने की चीज लुटाती हैं, उसी प्रकार हम लोग भी जो सम्यक् क्रान्ति याने संक्रान्ति किया चाहते हैं, उसमें हर कोई अपना-अपना सर्वस्व न सही, पर यथाशक्ति स्वल्प लुटा दें।

इस प्रकार जो जितना दान करे या न करे, उसे सब मधुर मानकर स्वीकार करें और पिछली बातों को भुलाकर ऐसे रास्ते चलें कि कोई ज्यादती न करने पाये और सब परस्पर प्रेम से रहें। श्रीमत् शंकराचार्य ने दान की परिभाषा ही 'दानं यथाशक्ति संविभागः' की है, जो सर्वथा योग्य है। 'यथाशक्ति' का अर्थ होता है, पीछे जिसके लिए पश्चात्ताप न हो और मन की प्रसन्नता बनी रहे।

कुछ लोग कह सकते हैं कि सब लोग अपने पास जो कुछ

भी दें, सब दे दें और तब सबमें उसका समविभाग हो। पर ऐसा करना बल-प्रयोग होगा और अब तक जो अमीरी के अभ्यस्त रहे हैं और हमने-आपने ही जिन्हें इस प्रकार रहने दिया, उन्हें एकाएक नीचे खींचना अन्याय होगा। उन्हें नवीन परिस्थिति के अनुकूल हो लेने का अवसर देना चाहिए। उनके पास जितनी भी सम्पत्ति बची हो, इसके आगे, उसका कोई दुरुपयोग न हो सकेगा। उस सम्पत्ति के बल पर वे दूसरों की कमाई चूस नहीं सकेंगे। फिर वह कालवश क्षीण ही होती चली जायगी। तब किसी निर्विष और मरे के किनारे पड़े हुए साँप पर प्रहार करने में कौन-सा पुरुषार्थ है?

● ● ●

मैं अहिंसा के द्वारा, घृणा के विरुद्ध प्रेम की शक्ति का उपयोग करके लोगों को अपने विचार का बनाकर, आर्थिक समता सम्पादन करूँगा। मैं तब तक ठहरा नहीं रहूँगा, जब तक सारे समाज को बदलकर अपने खयाल का न बना लूँ। मैं तो सीधे अपने जीवन से इसकी शुरुआत कर दूँगा। कहना न होगा कि अगर मैं पचास मोटर गाड़ियों अथवा दस बीघा जमीन का भी मालिक हूँ, तो मैं अपनी कल्पना की आर्थिक समता सिद्ध करने की आशा नहीं रख सकता। इसके लिए मुझे गरीब से गरीब आदमी के स्तर पर आ जाना पड़ेगा।

३१-३-'४६ — महात्मा गांधी

: ३ :

सर्वसामान्य

१. योजना की अच्छाई

यहाँ तक शोषण-निरसन की जो योजना हमने सबके सामने रखी, वह बहुत प्रकार से अच्छी है। सुमर्यादित और सौम्य है, सरल और सुव्यवस्थित है, तर्क-शुद्ध और सुसंगत है, विचार प्रधान और विकाररहित है, प्रेममूलक और दण्डरहित है, संतुलित और समन्वयी है।

२. सुमर्यादित और सौम्य

यह योजना सौम्य और सुमर्यादित है। इसमें स्वामित्व का निराकरण है। अबाधित, निरंकुश स्वामित्व का निरोध है। परंतु तात्कालिक व्यवहार के निमित्त विनाशशील सम्पत्ति के लिए छूट रखी है। जिसके पास जो कुछ बचा हो, उस पर उसका पूर्ण अधिकार रहेगा। इसमें स्वामित्व को स्थानबद्ध किया है, पर पैरों में बेड़ियाँ डालकर उसे फाँसी लगाने का हेतु नहीं है। इसलिए किसीके लिए घबराने की कोई बात नहीं है।

'ईशावास्यमिदं सर्वम्', यह सच है। 'सब संपति रघुपति कर आही' यह विचार सत्य है। सम्पत्ति सामाजिक निर्मिति है। उस पर कोई भी अपने अकेले का स्वामित्व बताये, यह स्पष्ट ही असत्य और हास्यास्पद है। तथापि इस मूलभूत सत्य को अपने रोजमर्रा दैनंदिन जीवन के व्यवहार में लाते हुए 'मेरा'

'तेरा' के भेद करने ही पड़ते हैं। मैं और तू जब तक है, तब तक मेरा और तेरा मानना ही पड़ेगा। ऐकान्तिक साम्यवाद या साम्ययोग व्यवहार मे आ ही नहीं सकता। कुछ समझौते करने ही पड़ते हैं; विशिष्ट मर्यादा के अन्दर निजी सम्पत्ति के लिए अवसर रखना ही पडता है। उदाहरणार्थ, कुटुम्ब-परिवार मे भी अन्न का संग्रह और सिद्धान्त सबका ही होता है तथापि पत्तलें जब परस गयीं और हम भोजन के लिए बैठे, तो हो सकता है कि हमारा कोई भाई रोटी पर रखा मक्खन पहले ही उड़ा जाय और दूसरा भाई थोड़ा-थोड़ा ले और आखिरी कौर के लिए बचा रखे। जो ऐसे बचा रखेगा, उसे पीछे तक खाने को मिलेगा, पर जो पहले ही सारा मक्खन चट कर जायगा, वह दूसरे की पत्तल पर बचा हुआ मक्खन उठा न सके, यह न्याय्य ही है। रसोईघर मे रखा हुआ अन्न यद्यपि है सबकी ही सम्मिलित कमाई, पर पत्तल पर परसा अन्न जिस-तिस की निजी कमाई है और उसकी बचत भोजन कर चुकने तक जिस-तिस की निजी सम्पत्ति रहे, यही सुविधा और न्याय की बात है। साम्यवाद की किसी भी योजना में ऐसे निर्बन्ध और साथ ही कुछ रियायतें भी रखनी ही पड़ती हैं। ये निर्बन्ध और रियायतें ऐसे हिसाब से रखनी पडती हैं कि समाज-धारणा और मानव-गुण-संवर्द्धन मे पोषक ही हों, मारक नहीं। इन्हें निश्चित करते हुए समाज के व्यक्तियों की सामान्य मनःस्थिति ध्यान में रखनी पडती है।

निजी सम्पत्ति रखना जड़मूल से ही उखाड़ दिया जाय, याने कोई व्यक्ति कुछ बचा रखे, तो भी उस पर उसका कोई अधिकार न हो और वह समाज की सम्पत्ति हो जाय, तो मनुष्य आलसी और उड़ाऊ बन जायगा। आज का सामान्य मनुष्य उस हालत मे यही सोचेगा कि 'मैं अधिक काम करूँ, तो उससे मुझे कुछ

मिलनेवाला नहीं है, और कुछ भी न करूँ, तो दूसरों के श्रमों का फल तो मुझे घर बैठे मिलने ही वाला है।'

इसलिए हमने निर्बन्ध शोषण-निरोधभर के लिए रखे हैं और बचत के लिए छूट रखी है। इसका अभिप्राय यह तो नहीं हो सकता कि कोई चाहे, तो अपनी बचत दूसरों के हित में खर्च न करे। यह तो वह अवश्य कर सकता है, पर यह निर्बन्ध नहीं, अनुनय है। अनुनय शब्द का अर्थ होता है अपने पीछे पीछे लिए चलना, पहले किया पीछे कहा, अनु = पीछे, + नी = ले चलना।

३. अपरिग्रह की श्रेष्ठता

अपरिग्रह, स्वात्मार्पण श्रेष्ठ सम्पत्ति ही है। मनुष्य को चाहिए कि निजी प्रेरणा से ही अपना सर्वस्व जनता-जनार्दन को अर्पण कर वह श्रेष्ठ सम्पत्ति जोड़े। कारण दूसरों के लिए प्राण देनेवाले भाई-बन्द से बढ़कर सम्पत्ति और कौन-सी है? संग्रह करना पड़ोसियों अथवा समाज को ठगना है, समाज-द्रोह है। जो भाई अपने लिए खास तौर पर लड्डू अलग डिब्बे में भरकर रखता है, उसे वे लड्डू तो मिलेंगे, पर वह अपने भाइयों को खो देगा। वह कुटुम्ब-द्रोह का अपराधी होगा। रुपया-पैसा डिग्री याने हुक्मनामा है। रुपये-पैसे का व्यवहार इस हुक्मनामे को तामील कराना है। इससे अड़ोसी-पड़ोसी, भाई-बन्द और सगे-सम्बन्धी मर्माहत होते और अलग हो जाते हैं, अपरिग्रह से मनुष्य अपने हो जाते हैं। 'सब कोई मेरे लिए लोकपाल हो गये, सगे-सम्बन्धी प्राणसखा बन गये'—तुकाराम। सारा विश्व ही जिसकी वृत्ति में अपना कुटुम्ब हो गया, उसके लिए कुंजी-ताला, दस्तावेज, वसूली, जब्ती आदि व्यवहारों का कुछ काम ही नहीं रह जाता। पर इसके लिए निजी प्रेरणा होनी चाहिए। इसलिए हमारी योजना में निर्बन्ध और अनुनय के स्वतन्त्र क्षेत्र नियत किये गये हैं।

४. बचत की दीर्घतम मर्यादा

हमने जिस बचत के लिए छूट रखी है, वह श्रममूलक है और क्षयशील भी है। तथापि यह संभव है कि सतत उद्योग और मितव्यय के बल पर वह बढ़ायी जा सके और विपुल धन-संचय किया जा सके। फिर धन गोला-बारूद जैसी ही एक शक्ति है। किसी मनुष्य के पास निजी तौर पर बन्दूकें और गोला-बारूद बेहिसाब इकट्ठा हों, तो वह मनुष्य समाज और सरकार के लिए खतरनाक होगा। इसी प्रकार किसीके यहाँ निजी सम्पत्ति बेहद बढ़ जाय, तो वह भी समाज के लिए भारी होगा। इसलिए कुछ लोगों का यह कहना है कि निर्दोष याने शोषणरहित धन-संचय की भी दीर्घतम मर्यादा निश्चित की जानी चाहिए, जिसमें उससे अधिक धन-संचय कोई कर न सके।

इसी प्रकार कुछ लोगों का यह कहना है कि कोई निजी बचत चाहे जितनी संचित कर सके, पर उत्तराधिकारियों को उसके मिलने के सम्बन्ध में विशेष निर्बन्ध होना जरूरी है। इसमें भी दीर्घतम मर्यादा निर्दिष्ट होनी चाहिए, अथवा उत्तराधिकारी-कर लगाया जाना चाहिए।

तत्त्वतः हम इन सूचनाओं के विरुद्ध नहीं हैं, पर व्यवहार की दृष्टि से इसमे कठिनाइयाँ हैं। तात्त्विक दृष्टि से ऐसे निर्बन्ध व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में बाधक हैं। तथापि विशेष संचय दूसरों का अपहरण किये बिना सम्भव नहीं है। इसलिए व्यक्ति के संचय की दीर्घतम मर्यादा—यदि वह यथेष्ट विस्तृत हो तो—नियत की जा सकती है। इसमें कुछ अनौचित्य नहीं है। पर उत्तराधिकार-नियन्त्रण से दान-स्वातन्त्र्य मे बाधा पड़ती है। उत्तराधिकार के लिए जो दीर्घतम मर्यादा हो सकती है, वह यदि वैयक्तिक संचय की मर्यादा से बहुत निम्न स्तर की हो—और तभी उसका कुछ

अर्थ हो सकता है—तो शेष सम्पत्ति अन्य किसीको दे डालने के लिए मालिक को मजबूर करने का सा काम होगा।

व्यावहारिक कठिनाइयाँ ये हैं कि ऐसे कृत्रिम निर्बन्ध से उद्योग और मितव्यय में उत्साह नहीं रहता और उससे भी विशेष बात यह है कि छल और घूस को अवसर मिलता है; उत्तराधिकार-निर्बन्ध से बचने के अनेक अपमार्ग निकल पड़ते हैं। निर्बन्ध सरल और सुव्यवस्थित होना चाहिए।

५. सरल और सुव्यवस्थित

इस दृष्टि से हमारी योजना सरल और सुव्यवस्थित है। (१) भूमि का सामुदायिक स्वामित्व, (२) श्रमोपार्जित कमाई और बचत पर व्यक्तिमात्र का अधिकार, (३) व्याज-भाड़ा, डिविडेंड असल की भरपाई के अतिरिक्त अस्वीकार, और (४) सिक्को का अवमूल्यन, इतने ही उनके सूत्र हैं।

इसके सिवा शोषण-मुक्ति के उपाय के तौर पर कुछ लोग यह सुझाते हैं कि उत्पादन के साधनों पर सबका सामुदायिक स्वामित्व हो, निजी स्वामित्व न हो। कुछ लोगों का यह सुझाव है कि भूमि के स्वामित्व की दीर्घतम मर्यादा निश्चित की जाय। हमारी योजना में इनकी आवश्यकता नहीं है। भूमि का स्वामित्व सबका संयुक्त ही रहेगा। उत्पादन-साधनों पर सामुदायिक स्वामित्व सुझानेवालों का ध्यान उत्पादन के भारी साधनों पर ही रहता है, जैसे खानें, रेलगाड़ियाँ, मिलें, बड़े-बड़े कारखाने आदि। पर हमारी योजना मे छोटे और बड़े साधनों में कोई भेद नहीं करना पड़ता। खानों जैसे नैसर्गिक साधन सामुदायिक स्वामित्व में ही रहेंगे। मनुष्य-निर्मित साधनों में पावरलूम जैसा उत्पादन-साधन है, वैसा ही करघा और चरखा ही नहीं, तकली भी उत्पादन-साधन ही है। सिलाई की मशीन के सदृश

ही कैंची और सुई भी उत्पादन-साधन ही है। साधन बड़े हों या छोटे, उनके मालिक को उनकी असली कीमत से अधिक भाड़ा न मिलेगा। इतने से शोषण-निवारण का हेतु सफल होता है।

६. तर्कशुद्ध और सुसंगत

हमारी योजना तर्कशुद्ध है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य मे इससे कोई बाधा नहीं पड़ती और न्याय तथा समाजहित साधते बनता है। हमारे किसी सिद्धान्त को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जमींदारी और पूँजीवाद, देहात और शहर, ग्रामोद्योग और कारखाने सबके लिए एक ही नीति से काम लिया गया है। कोई भी नियम या सिद्धान्त सर्वत्र लगा देने से उसकी पीड़ा एकबारगी हलकी होती है। केवल जमींदारी के विरुद्ध या केवल पूँजीवाद के विरुद्ध कोलाहल मचाने से तत्तत् वर्ग को वह अत्याचार-सा प्रतीत होता है, पर दोनों का सुमर्यादित नियंत्रण करनेवाली एक ही शास्त्रशुद्ध योजना सामने प्रस्तुत होने से किसीको भी वह पक्षपात अथवा अत्याचार जैसी नहीं प्रतीत होती।

७. फैक्टरी-दान

योजना सबके लिए कसौटी हो, इस दृष्टि से ग्रामदान के समान ही फैक्टरी-दान भी होना चाहिए। इस विषय में हमारी योजना परिपूर्ण न भी हो, तो भी उससे फैक्टरी-दान का रास्ता खुल जाता है। फैक्टरी पर पूँजीपति का अधिकार पूँजी पट जाने तक ही रहेगा। फैक्टरी के छोटे-बड़े श्रमिक कार्यकर्ता सामुदायिक रूप से फैक्टरी के मालिक बनेंगे। वे स्वतंत्र हो जायँगे, पर अन्तर्गत समता अथवा लोकतंत्र का बनना शेष रहेगा। फैक्टरी की कमाई का बँटवारा छोटे-बड़े कामगारों की सम्मति से जहाँ हुआ, फैक्टरी-दान पूर्ण हुआ।

८. विचारप्रधान, विकाररहित

हमारी योजना कुछ खास न्यायोचित और हितकर सिद्धान्तों पर खड़ी है। किसी व्यक्ति या वर्ग के लिए साधक या बाधक होने की दृष्टि इसमें नहीं है। किसीका इसमें पक्ष नहीं किया गया है, न किसीका विपक्ष ही। इसमें मानवमात्र के कल्याण अथवा उन्नति का ध्यान है। किसीकी कोई हानि करने का हेतु नहीं। हम गाँव की नदी पर पुल बाँधा चाहते हैं। इसमें जैसे सबकी सुविधा का ही विचार रहता है, उस नदी में डोंगी चलानेवाले मल्लाहों को नुकसान पहुँचाने की कोई बात नहीं होती, उसी प्रकार यहाँ 'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय' की योजना नहीं; बल्कि सर्वहित, सर्वसुख साधने का प्रयत्न है। पुल बाँधने से मल्लाह कुछ बेकार होते हैं अथवा शराबबंदी से उसके रोजगारी कुछ कठिनाई में पड़ते हैं, उसी प्रकार इस सुधार-योजना से भी कुछ लोगों को तात्कालिक कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है, यह हम समझते हैं, पर हमारा हेतु उन्हें कठिनाई में डालना नहीं है। उनकी तात्कालिक कठिनाई में से उनके लिए नया मार्ग निकालने में दूसरे लोग भी उनकी मदद करेंगे। सबके लिए सद्भाव हो, इस भावना से ही हमारी योजना निकली है और इसलिए यह विश्वास होता है कि सब इसका स्वागत ही करेंगे। हमारी क्रान्ति न भूमिवानों की है न भूमि-हीनों की, न मालिकों की न मजदूरों की, बल्कि सब मिलकर 'स्वान्तःसुखाय' करने की यह सर्वोदयी क्रान्ति है।

९. संतुलित और समन्वयी

इस योजना में जो 'नहीं'वाले हैं, उनके लिए उद्योग और मितव्यय के आश्रय से उत्कर्ष साधने का मार्ग उन्मुक्त कर दिया

गया है, उनके मार्ग की कठिनाइयाँ दूर की गयी हैं, उसी प्रकार 'हाँ'वाले के न्याय्य हित-सम्बन्धों का पूर्ण संरक्षण किया गया है। इसमें विधान और लोकशिक्षा, निर्बन्ध और मत-परिवर्तन के लिए अलग-अलग क्षेत्र बाँट दिये गये हैं।

समाज-धारणा के लिए केवल विधान या निर्बन्ध पर्याप्त नहीं होता, यह हम भलीभाँति जानते हैं। निर्बन्ध के साथ-साथ अनुनय, विधान के साथ-साथ प्रेम, न्याय के साथ-साथ दया, वाद के साथ-साथ विनय आदि का होना अत्यावश्यक है। समाज-धारणा में विधान का स्थान देह-धारण में अस्थि का स्थान जैसा है। केवल अस्थि-पिंजर प्रेत होता है। उस पर रक्त-मांस का सम्पूर्ण वेष्टन हो, तभी देह के सब व्यापार चल सकते हैं। अस्थि भी मूलतः रक्त से ही बनती है, वैसे ही कानून या विधान बहुतों की निजी प्रेरणा से बनने चाहिए। रुधिराभिसरण है प्रेमाभिसरण। प्रेम के रुधिराभिसरण से सुदृढ़ अस्थि-पिंजर बनना चाहिए। अस्थि-पिंजर जैसे रक्त-मांस के कार्य का आधार बनता है, वैसे ही ये निर्बन्ध प्रेम के स्वयंस्फूर्त व्यापार के पोषक ही नहीं, स्वयं आधार बनेंगे। ये निर्बन्ध मनुष्य की समाज-निष्ठा का ही समाजीकरण हैं, साथ ही समाज-शरीर की सम्भाव्य विकृति के निराकरण भी।

१०. ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

शोषण-निरसन की इस योजना से गांधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का कहीं से कोई विरोध नहीं होता। हाथ आये हुए या रहे हुए धन के सम्बन्ध में धनिकों की दृष्टि और भावना क्या होनी चाहिए और उस धन का विनियोग वे कैसे करें, यही ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त बतलाता है। हमारी योजना यह बतलाती है कि धनोपार्जन करते हुए किन-किन पथ्यों का सेवन करना

चाहिए। इन दोनों सिद्धान्तों का समन्वय इस प्रकार होता है कि जो अपने आपको ट्रस्टी समझता है, वह धनोपार्जन शोषण के मार्ग से कदापि न करेगा। शोषण-मुक्त मार्गों से वह जो धनोपार्जन करेगा और जो पैतृक सम्पत्ति उसके पास होगी, उसीका वह ट्रस्टी होगा। जमींदारी और पूँजीशाही की बदौलत धन अर्जन कर उसका ट्रस्टी बनना ट्रस्टीशिप का उपहास है।

११ शान्ति-सेना के लिए आवश्यक

ग्रामदान से उद्भूत उत्तरदायित्व के तौर पर विनोबाजी ने शान्ति सेना की जो योजना चलायी है, उसके लिए हमारी यह योजना न केवल पोषक है, प्रत्युत आवश्यक भी है। समाज में शान्ति बनी रहे, इसके लिए पहले यह आवश्यक है कि अपने और समाज के आचार में से संघर्ष की जड़ें उखाड़ कर फेंक दी जायें। इस निराई का बन्दोबस्त हमारी योजना से हो जाता है।

१२. योजना का कार्यान्वित होना

हमारी यह योजना सरकार अथवा गाँव गाँव के लोग कार्यान्वित करने का निश्चय कर लें, तो क्या-क्या करना होगा, इसका विचार करना आवश्यक है। व्यक्ति भी व्यक्तिशः इसका पालन कैसे करें, उसका भी विचार कर लें।

१३. भूमि के दखल-कब्जे की पद्धति

इस योजना का पहला परिणाम अभी की भूमि के दखल-कब्जे की पद्धति पर होगा, यह स्पष्ट ही है। गाँव की जमीन गाँव के सभी मनुष्यों के लिए है। इसलिए जो-जो कोई खेती करना चाहते है उनमें से हर किसीको दूसरों के बराबर जमीन का हिस्सा मिलना चाहिए। ऐसा करने से अभी जो लोग मालिक के नाते या असामी के नाते अपने उचित अंश से अधिक भूमि भोग रहे हैं, उनके लिए कुछ कठिनाई होगी। इसी प्रकार जो लोग

बतलाया हुआ काम करनेवाले खेत-मजदूर के नाते मजदूरी ही लेते चले आये, उन्हें भी अब अपनी ही जिम्मेदारी पर अपने ही प्रबन्ध से सारा व्यवहार करना पड़ेगा और फसल हाथ मे आने तक कई महीने राह देखते रहना होगा। इनके लिए भी एक दूसरी तरह की कठिनाई होगी। इन कठिनाइयों का निवारण सबको ही आस्था के साथ करना होगा। एक की कठिनाई सबकी ही कठिनाई समझी जानी चाहिए। भूमिहीनों को भूमि के साथ ही खेती के साधन तथा पेट के लिए अन्न या खर्च, जहाँ तक हो सके, बिना कुछ लिये या बिना ब्याज का कर्ज देकर, जुटा देना होगा। इसी प्रकार उन्हें खेती का शिक्षण और मार्ग-दर्शन करा देना होगा। जमींदारों को भी कुछ काल तक निश्चित आय का आश्वासन गाँव दे। अपने पास की जो विकसित भूमि वे छोड़ देंगे, उसका यदि वे ऐसी माँग करें, तो क्रमशः घटता चलनेवाला अंश उन्हें कुछ वर्षों तक मिला करे अथवा उसके बदले में उसका इकट्ठा मूल्य ही उन्हें मिल जाय। वह अंश या मूल्य यदि वे दान-बुद्धि से छोड़ दें, तो गाँववालों का जो सद्भाव उन्हें प्राप्त होगा वह उनके लिए लाभ का ही सौदा होगा। फिर भी यह बात उन्हींकी मर्जी पर छोड़ देनी चाहिए। पाँच-पाँच अथवा दस-दस वर्ष बाद सारी जमीन का फिर से वितरण होना चाहिए। कारण इस अवधि मे कुटुम्बों की भूमि-विषयक आवश्यकताओं में बहुत हेरफेर होंगे। दूसरे गाँव के कोई कुटुम्ब यदि आ जायँ, तो उन्हें भी जमीन मिलनी चाहिए। जिस तरह रेलगाडी की यात्रा में हर स्टेशन पर नये यात्री गाड़ी मे घुस आते हैं और गाड़ी में बैठे हुए यात्रियों का यह काम नहीं है कि वे उन्हें रोकें, तथापि बाहर खड़े यात्री भी गाड़ी के अन्दर की भीड़ देखकर ही इस या उस गाड़ी पर चढ़ते हैं और फलतः सभी डिब्बों मे सामान्यतः एक-सी ही भीड़ होती है, उसी प्रकार की अवस्था गाँव-गाँव की

खेती की भी होगी। किसीके लिए कोई रोक नहीं रहेगी। इससे कोई व्यर्थ ही भीड भी न करेंगे।

गाँव के जो उद्योग-धन्धे खेती के मौसिम में भी बन्द नहीं रखे जा सकते—जैसे बढ़ई, लुहार, नाई, धोबी, चमार इत्यादि के—उनमें लगे हुए लोग यदि खेती न भी करें, तो भी उनके काम का बदला उन्हें इतना मिलना चाहिए कि उनका जीवन-मान किसानों के समान रहेगा। ऊँच-नीच की भावना या वर्त्ताव सबको ही छोड़ देना चाहिए और परस्पर बन्धुत्व का नाता जोड़ना चाहिए।

१४. कारखाने

कारखाने में काम बुद्धि का हो, या शारीरिक श्रम का, उसे करनेवाले मैनेजर, इंजीनियर, सरदार, मजदूर, विक्रेता आदि ही कारखाने के चालक होंगे। कारखाने का काम उन्हें अपनी जिम्मेदारी पर उठाना होगा और कारखाने से होनेवाली आय भी उन्हें ही मिलेगी। यह आय आपस में कैसे बाँट ली जाय, यह प्रश्न उनके आपस में ही तय करने का रहेगा। कारखाने का संचालन सम्भव हुआ, तो सहकारी पद्धति से होगा, अन्यथा मालिक की पद्धति से *अर्थात् कुछ उत्तरदायी चालक होंगे और* बाकी वेतनभोगी नौकर। पर किसी भी हालत में मालकियत कारखाने के बाहर न जायगी। कारखाने में जिनकी पूँजी लगी, उनकी वह (विना व्याज की) पूँजी पटा देने की जिम्मेदारी कारखाने पर याने उसके चालकों पर होगी। मूलधन लौटाने के *सिवा व्याज, भाडा, डिविडेंड आदि कुछ नहीं दिया जायगा,* पर इससे पूँजीपति को सहसा कोई कठिनाई न होगी। कारण उसका मूलधन तो उसको वापस मिलने ही वाला है।

१५. कर्ज-व्यवहार

उचित कारण से कर्ज की रकमें लेनी-देनी पड़ेंगी, अथवा

अन्न भी कर्ज के तौर पर लिया-दिया जायगा। इस कर्ज पर कोई ब्याज न चढ़ेगा। असल उतारने के लिए बन्धक के तौर पर फसल, घर, औजार इत्यादि रखा जा सकता है। जमीन में जो सुधार किये गये हों, उनके कारण मिलनेवाला अवधिबद्ध और क्रमशः घटनेवाला अंश भी बन्धक रखा जा सकता है।

हमारी यह सूचना प्रचलित भूदान-विषयक विचार से भिन्न है। सुधारी हुई जमीन के तात्कालिक स्वामित्व का विचार ही सर्वथा भिन्न विचार है। परन्तु ग्रामदानी गाँवों की व्यवस्था और व्यवहार अभी अनिश्चित अवस्था में हैं, उन्हें निश्चित रूप प्रदान करते हुए तात्कालिक स्वामित्व की यह बात माननी पड़ेगी। ऐसा किये बिना हम समझते हैं कि व्यवहार में सुविधा न होगी। अस्तु।

१६. व्यक्ति के कर्तव्य

हमारी इस योजना को सरकार अथवा समुदाय की सम्मति प्राप्त हो, इसमें कुछ समय लगना अपरिहार्य है। इसके लिए हमें बहुत विचार करना होगा। प्रचलित पद्धति में जो शोषण अथवा अन्याय है, वह जिनके ध्यान में आ जायगा, वे इस प्रचार कार्य में सहभागी होंगे। ऐसे लोग अपने भरसक उस विचार के अनुसार आचरण करें, तो उनका विचार-प्रचार विशेष प्रभावोत्पादक होगा। प्रचार की बात अलग रखें, तो भी जिन्हें यह विचार जँचे, उन्हें आत्मशुद्धि और आत्म-समाधान के लिए वैसा आचरण करना चाहिए, समाज और सरकार माने या न माने। यह सांघिक आचरण की बात हुई। एक-एक व्यक्ति क्या करे? उदाहरण के तौर पर कुछ आगे नीचे लिखे देते हैं :

(१) जिस व्यक्ति के दखल-कब्जे में अधिक जमीन हो, वह अपने आनुमानिक उचित अंश की जमीन अपने पास रखकर

बाकी, गाँव को साक्षी रखकर, गाँव की सम्मति से योग्य भूमिहीनों को बाँट दे। यह अनुमान करना यदि कठिन प्रतीत हो, तो अपनी जमीन का छठा हिस्सा दान कर दे और बाकी जमीन यथापरिमाण बाँट लेने की अपनी तैयारी जाहिर कर दे।

(२) दखल-कब्जा याने खेत की कमाई के न होते हुए भी मालिक के नाते जिस जमीन पर ऐसा दखल कब्जा हो, वह जमीन उसे जोतनेवाले असामियों को ही देकर अलग हो जाना चाहिए। स्वयं खेत कमाने के लिए यदि इसमें से कुछ रखना आवश्यक हो तो उचित परिमाण में वैसा किया जा सकता है।

(३) व्यक्ति व्याज न दे, न ले। पर इससे पहले ही यदि उसने कर्ज लिया हो, तो उसकी शर्तें यथासंभव शीघ्र पूरी करके वह मुक्त हो जाय।

(४) मूलधन पटाने के सिवा और कोई भाडा और डिविडेंड वह वसूल न करे, दूसरों को देना अपरिहार्य हो तो दे।

(५) वर्षान्त में अपने पास (बैंक का तथा अन्य लेन-देन का हिसाब करके) जो रोकड बाकी हो, उसका सैकड़े पीछे ५ सत्पात्र गरजमंदों को दान कर दे, इत्यादि।

१७. आशा-आकांक्षा

More sins are wrought for want of thought than for want of heart.

अर्थात् पाप दुष्टतावश होते हैं, उसकी अपेक्षा नासमझी से अधिक होते हैं। यह अंग्रेजी वचन सत्य है। मनुष्य हर तरह के दुष्कर्म करता है, यह हम लोग देखते ही हैं, पर वह स्वभावतः दुष्ट नहीं है। तब प्रत्यक्ष में इतने अपराध कैसे बनते हैं? इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि हमारी समाज-रचना मूल में ही दोषयुक्त है। उसकी नींव ही टेढ़ी है। नींव यदि कम-

ज़ोर हो, तो उस पर उठी हुई दीवारें धँसती हैं और छप्पर भी घहराकर गिर पड़ते हैं। समाज की बंधान का भी ऐसा ही हाल हुआ है। 'मनुष्य केवल सुधरा हुआ याने कपड़े पहनने-वाला और ऐनक लगानेवाला पशु ही है, मैं भी दो पैरों पर चलने-वाला पशु ही हूँ।' इस प्रकार की आत्महीनता की भावना से ही हम लोग अपना काम-धाम करते हैं। इस दुर्भावना से स्वार्थ, संघर्ष और मार-काट के सिवा और क्या हो सकता है ? परन्तु मनुष्य पशुदेह का साधनरूप से उपयोग करता है, तो भी मनुष्य पशु नहीं है। हार्मोनियम की पेटी लकड़ी-हड्डी की बनी होने पर भी उसके मधुर मंजुल ध्वनि लकड़ी-हड्डी से सर्वथा भिन्न होते हैं। गणेशजी मट्टी नहीं हैं, वैसे ही मनुष्य पशु नहीं है। पशु-जीवन की कमान मानवता का उसमें प्रवेश होते ही अपनी दिशा बदल कर चढती से उतरती बन जाती है। मनुष्य-जीवन के नियम पशु-जीवन के सर्वथा विपरीत हैं। स्वार्थ पशुधर्म है, तो भी मनुष्य-धर्म परमार्थ ही है। स्वात्मार्पण ही मनुष्य-जन्म की चरितार्थता है। मनुष्य-समाज की बंधान इसी मूलधर्म के अनु-सार होनी चाहिए। कुटुम्ब की रचना इसी प्रकार से होती है। पति पत्नी को, पत्नी पति को और दोनों अपनी सन्तानों को स्वात्मार्पण करते हैं। समाज में व्यक्ति इसी प्रकार से ओत-प्रोत होने चाहिए, तभी वह मानव-समाज होगा, अन्यथा उसे भेड़ियों का झुण्ड ही कहना चाहिए। इसलिए हमें समाज-रचना की नींव ही सुधारनी होगी।

नींव गलत होने से, पहले कुछ जाने और कुछ बेजाने अन्याय होते हैं। उनकी प्रतिक्रिया के तौर पर दूसरे अन्याय होते हैं। इस प्रकार दोष-परम्परा बढ़ती है और सारा वातावरण ही दूषित हो जाता है। ऐसे दूषित वातावरण में सज्जन भी पथभ्रष्ट होते हैं। इस समय यही हुआ है और मानव-वंश में परस्पर कलह मची हुई है।

बाकी, गॉव को साक्षी रखकर, गॉव की सम्मति से योग्य भूमि-हीनों को बॉट दे। यह अनुमान करना यदि कठिन प्रतीत हो, तो अपनी जमीन का छठा हिस्सा दान कर दे और बाकी जमीन यथापरिमाण बॉट लेने की अपनी तैयारी जाहिर कर दे।

(२) दखल-कब्जा याने खेत की कमाई के न होते हुए भी मालिक के नाते जिस जमीन पर ऐसा दखल-कब्जा हो, वह जमीन उसे जोतनेवाले असामियों को ही देकर अलग हो जाना चाहिए। स्वयं खेत कमाने के लिए यदि इसमें से कुछ रखना आवश्यक हो तो उचित परिमाण में वैसा किया जा सकता है।

(३) व्यक्ति व्याज न दे, न ले। पर इससे पहले ही यदि उसने कर्ज लिया हो, तो उसकी शर्तें यथासंभव शीघ्र पूरी करके वह मुक्त हो जाय।

(४) मूलधन घटाने के सिवा और कोई भाड़ा और डिविडेंड वह वसूल न करे, दूसरों को देना अपरिहार्य हो तो दे।

(५) वर्षान्त में अपने पास (बैंक का तथा अन्य लेन-देन का हिसाब करके) जो रोकड़ बाकी हो, उसका सैकड़े पीछे ५ सत्पात्र गरजमंदों को दान कर दे, इत्यादि।

१७. आशा-आकांक्षा

More sins are wrought for want of thought than for want of heart.

अर्थात् पाप दुष्टतावश होते हैं, उसकी अपेक्षा नासमझी से अधिक होते हैं। यह अंग्रेजी वचन सत्य है। मनुष्य हर तरह के दुष्कर्म करता है, यह हम लोग देखते ही हैं, पर वह स्वभावतः दुष्ट नहीं है। तब प्रत्यक्ष में इतने अपराध कैसे बनते हैं? इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि हमारी समाज-रचना मूल में ही दोषयुक्त है। उसकी नींव ही ढीली है। नींव यदि कम-

जोर हो, तो उस पर उठी हुई दीवारे धँसती है और छप्पर भी घहराकर गिर पड़ते हैं। समाज की बंधान का भी ऐसा ही हाल हुआ है। 'मनुष्य केवल सुधरा हुआ याने कपड़े पहनने-वाला और ऐनक लगानेवाला पशु ही है, मैं भी दो पैरो पर चलने-वाला पशु ही हूँ।' इस प्रकार की आत्महीनता की भावना से ही हम लोग अपना काम-धाम करते हैं। इस दुर्भावना से स्वार्थ, संघर्ष और मार-काट के सिवा और क्या हो सकता है ? परन्तु मनुष्य पशुदेह का साधनरूप से उपयोग करता है, तो भी मनुष्य पशु नहीं है। हार्मोनियम की पेटी लकड़ी-हड्डी की बनी होने पर भी उसके मधुर मंजुल ध्वनि लकड़ी-हड्डी से सर्वथा भिन्न होते हैं। गणेशजी मट्टी नहीं हैं, वैसे ही मनुष्य पशु नहीं है। पशु-जीवन की कमान मानवता का उसमें प्रवेश होते ही अपनी दिशा बदल कर चढ़ती से उतरती बन जाती है। मनुष्य-जीवन के नियम पशु-जीवन के सर्वथा विपरीत है। स्वार्थ पशुधर्म है, तो भी मनुष्य-धर्म परमार्थ ही है। स्वात्मार्पण ही मनुष्य-जन्म की चरितार्थता है। मनुष्य-समाज की बंधान इसी मूलधर्म के अनु-सार होनी चाहिए। कुटुम्ब की रचना इसी प्रकार से होती है। पति पत्नी को, पत्नी पति को और दोनों अपनी सन्तानों को स्वात्मार्पण करते हैं। समाज में व्यक्ति इसी प्रकार से ओत-प्रोत होने चाहिए, तभी वह मानव-समाज होगा, अन्यथा उसे भेड़ियों का झुण्ड ही कहना चाहिए। इसलिए हमे समाज-रचना की नीव ही सुधारनी होगी।

नींव गलत होने से, पहले कुछ जाने और कुछ बेजाने अन्याय होते हैं। उनकी प्रतिक्रिया के तौर पर दूसरे अन्याय होते हैं। इस प्रकार दोष-परम्परा बढ़ती है और सारा वातावरण ही दूषित हो जाता है। ऐसे दूषित वातावरण में सज्जन भी पथभ्रष्ट होते है। इस समय यही हुआ है और मानव-वंश मे परस्पर कलह मची हुई है।

समाज की नींव में सुधार के, परिपूर्ण तो नहीं, पर कुछ सुगम और सरल उपाय हमने सुझाये हैं। हम सब उन्हें मान लें और तदनुसार जीवन निर्माण करे, तो वातावरण निर्मल होगा और ईश्वर ने जिन्हे परस्पर की सहायता के लिए पड़ोसी बनाकर उत्पन्न किया, पर जो आज परस्पर के वैरी बने हैं, वे परस्पर के वैर भुलाकर पड़ोसी-धर्म बरतने लगेंगे।

समस्त मानव-समाज आज इसकी आवश्यकता अत्यन्त तीव्रता के साथ अनुभव कर रहा है। भारत ने आज तक अनेक बार जगत् का नेतृत्व किया है। भौगोलिक रचना और ऐतिहासिक परंपरा से भारत पर कुछ जिम्मेदारियाँ आ पड़ती हैं। उन्हींमें यह अहिंसा प्रधान समाज-रचना प्रत्यक्ष कर दिखाने की जिम्मेदारी है। भारत ने अहिंसा-मार्ग से स्वराज्य प्राप्त कर संसार को एक नया मार्ग दिखाया। अब अन्तर्गत समाजरचना भी उसी पद्धति से कर दिखाने का उत्तरदायित्व भी भारत के सिर पर है। इसमें जैसे भारत का कल्याण है, वैसे ही सारे जगत् का भी है।

इस दृष्टि से विनोबाजी का ग्रामदान का कार्य जागतिक महत्त्व का है। पर ग्रामदान व्यापक और सार्वत्रिक होने के लिए यह आवश्यक है कि गाँवसमाज की रचना करने में जिस नीति से काम लेंगे, वही नीति कारखानों, कार्यालयों, व्यापार तथा अन्य आर्थिक व्यवहारों में भी चलानी होगी। उस दृष्टि से, परिपूर्ण न सही, पर सुगम मार्ग जो सूझे, निम्न सज्जनों के सामने रखने का यहाँ तक प्रयत्न किया। विचारवान् सज्जनों को यदि ये स्वीकृत हुए और उन्हें उन्होंने कार्यान्वित किया, तो नव समाज का निर्माण हो सकता है।

हम ऐसी प्रार्थना करे, दृढ़ प्रयत्न करें।
ॐ शान्तिः पुष्टिः तुष्टिः चास्तु।

● ● ●

: ४ :

परिशिष्ट

[इस पुस्तक की हस्तलिखित प्रति पढ़कर मित्रों और गुरुजनों ने जो सूचना शंका-आक्षेप किये, उन सब का विचार संक्षेप में इस परिशिष्ट में करना है ।]

१. यह कैसे होगा ?

कुछ लोग सहज भाव से ही ऐसा सोचते हैं कि शोषण-मुक्ति की यह योजना उचित और तर्कशुद्ध है, पर आप कानून से मदद लेना नहीं चाहते, तो यह कार्यान्वित कैसे होगी ? 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः' यह भी आप ही बतलाते हैं।

इस पर हमारा यह कहना है कि जो लोग धर्म के विषय में विशेष रूप से जाग रहे हैं, ऐसे पुरुषार्थी लोग स्वयं व्यक्तिशः इन सिद्धान्तों का अपने-अपने व्यवहारों मे आचरण करना आरम्भ कर दें, इससे दूसरों मे भी प्रेरणा होगी। मनभर तात्त्विक चर्चा की अपेक्षा एक तोला आचरण लोक-प्रवृत्ति बनाने के काम में अधिक कारगर होता है। मांसाहार के त्याग जैसे सब नैतिक सुधार इसी तरह से हुए और हो रहे हैं।

२. सर्वसम्मत विधान

इसके सिवा सर्वसम्मत कानून या विधान से भी मदद लेने में हमें कोई हरज नहीं मालूम होता। *भूस्वामित्व-विसर्जन या*

ब्याज निरसन जैसी बातें राष्ट्र-राष्ट्र के निरस्त्रीकरण के सदृश या ग्रामदान के समान सब लोग करें, तो नितान्त सरल और लाभकारी हैं, पर अकेले करने जायँ, तो कठिन और संकटावह हैं। पर एक-एक व्यक्ति यदि इनके लिए तैयार न हो, तो सबके सब कैसे तैयार होंगे? इसीलिए षष्ठांश भूमि भूमिदान में दो, अपनी आय का कुछ अंश सम्पत्ति दान में दो, ऐसे-ऐसे सुगम और संकेतरूप कार्यक्रम चलाये गये। पर इतने कदम भी यूनिलेटरल (बिना शर्त) चलना जिनसे नहीं सपरता, वे यदि इतना ही कह दें, या लिख दें कि 'मुझे ये बातें स्वीकार हैं, मैं उनके अनुसार आचरण भी करना चाहता हूँ, पर अकेले वैसा करने में साहस नहीं होता। सबके साथ खुशी से वैसा करूँगा। इसके लिए वैसा कानून बन जाय, यह मेरी इच्छा है।' तो उनका यह कहना या लिखना हमारी योजना को मत देने के समान ही होगा। सर्वोदय-पात्र समतिदर्शक माना गया है। उससे अधिक स्पष्ट सम्मति यह होगी। सबके या बहुता के मत यदि इस प्रकार हमें मिल जायँ, तो कानून बनाने में भी कोई आपत्ति नहीं है। सर्वसमत कानून एक प्रकार का संकेत ही है। उसमें जबरदस्ती की मात्रा शून्य न भी हो, तो भी नाममात्र की है। हम लोगों का ध्यान यह रहना चाहिए कि मानवों के व्यवहार में जबरदस्ती और हिंसा का काम यथासंभव—सर्वथा संभव तो नहीं है, पर—कम जरूर हो। इस दृष्टि से निरे (याने कृतिशून्य) मत का भी कुछ महत्त्व है। कारण यह मत अभी कृतिशून्य देख पड़ने पर भी कृतिपरायण ही है। हमारा यह लेखन कार्य इसी प्रकार के लोकमत-संग्रह का ही प्रयत्न है। लोकमत बनता जायगा, वैसे-वैसे शिष्टाचार और विधान भी क्रम से बनेगा और बनना चाहिए तब वह विधान कार्यान्वित होने में कोई कठिनाई न होगी।

३. ग्रामदान की मंजिल

ग्रामदान इस मार्ग में एक बड़ी मंजिल है यद्यपि है अपेक्षा से सुगम। 'सारा मानव-समाज हमारी नव समाज-रचना का संकेत जब कभी स्वीकार करे, पर हम अपने-अपने गॉव के लिए तो स्वीकार कर ही लेते हैं।' 'समस्त मानव-जाति जब मांसाहार छोड़ने को हो, छोड़े; पर हमारी बिरादरी का निश्चय तो अभी हो ही जाने दीजिये।' यह कहकर ही जिस प्रकार कई समूची जातियाँ शाकाहारी बन गयीं, उसी प्रकार शोषण-मुक्त नव समाज की स्थापना भी गॉव-गॉव के लोग अपने-अपने गॉव में कर लें, तो ऐसा करना सुलभ हो सकता है।

हमारी यह योजना ग्रामदान या ग्रामराज्य का संविधान ही है। राज्य-संविधान में नितान्त आवश्यक सिद्धान्त ही सामने रखे जाते हैं। अन्य बातें नागरिकों के परस्पर सद्भाव और स्वेच्छा पर छोड़ रखना सुविधा-युक्त होता है। इसी प्रकार हमने यहाँ समाज-संविधान के नितान्त आवश्यक संकेत सामने रखे हैं। इनके सिवा नागरिकों में समाजार्पण-बुद्धि जितनी संवर्द्धित हो, उतनी आवश्यक ही है। तथापि 'समर्पण यदि न सधता हो, तो पहले अपहरण का निरसन तो हो ही जाना चाहिए', यही हमारी इस योजना का भावार्थ है।

४. 'कोई बचत करेगा ही नहीं'

'आप ब्याज नहीं लेने देते, देते भी हैं, तो मुद्राह्रास में से छूट के तौर पर देना चाहते हैं अर्थात् वास्तविक ब्याज तो वह नहीं होता, इसलिए कोई भी बचत करना न चाहेगा और उससे पूँजी की वृद्धि जितनी मात्रा में होना अपरिहार्य है उतनी भी नहीं होगी।' इस तरह का आक्षेप हमारी योजना पर किया जाता है, पर हमें यह युक्तिसंगत नहीं जँचता।

मनुष्य पेट के लिए श्रम करता है, शराब के लिए और भी लगकर श्रम करता है यह भी सच है। पर शराब के लोभ से घड़ीभर नसें तानकर उसने श्रम किया, पर पीछे बहुत देर तक वह निकम्मा पड़ा रहा, तो कुल हिसाब यही रहा कि काम कम ही हुआ।

उसी प्रकार मनुष्य जो बचत करता है, वह असल में दूरदर्शिता से भावी उपभोग अथवा आपत्प्रसंग के लिए ही करता है, व्याज के लिए नहीं। मूलधन में व्याज का लालच दिलाने से वह अधिक उद्योग और कम खर्च करके अधिक बचत करेगा, यह सही है, पर उस बचत से यदि आगे व्याज के रूप में उसे बिना श्रम किये बराबर आमदनी होनेवाली हो, तो वह सदा के लिए निकम्मा ही बना रहेगा। इसमें अपनी याने समाज की हानि ही है। उपाय करते अपाय न हो, इसकी जिम्मेदारी उठानी होगी। इसलिए बचत के लिए व्याज का लालच दिलाना हानिकारक है। पर सिक्के के मूल्य की घटी में मर्यादित व्याज की छूट देने से व्याज के दुष्परिणाम बहुत अंश में टाले जा सकते हैं और अपने पास की बचत दूसरों के काम आने के लिए उधार देने में प्रोत्साहन भी मिल सकता है। ● ● ●

: ५ :

माननीय श्री रा० कृ० पाटील द्वारा समाहार

श्री अप्पाजी पटवर्द्धन महाराष्ट्र के सुपरिचित हैं। निःस्वार्थ और निरपेक्ष देशसेवा के सम्वन्ध में गांधीजी का सन्देश प्रत्यक्ष कृति मे लानेवाले जो इने-गिने व्यक्ति महाराष्ट्र मे हुए, उन्हींमे से एक वे हैं। उनमें विचार और आचार का सुन्दर संगम हुआ है। कृतिशून्य विचार अथवा अन्धश्रद्धायुक्त आचार इन दोनों ही दोषों को उन्होने अपने जीवन मे नहीं आने दिया है। उनकी इस पुस्तिका के लिए प्रस्तावना लिखने का अवसर प्राप्त हुआ, इसे मैं अपना सद्भाग्य समझता हूँ।

भूदान-ग्रामदान-आन्दोलन से जो विचार-परम्परा आजकल चल पड़ी है, उससे अप्पाजी को भी अपने विचार लोगों के सामने रखने की इच्छा हुई। इसके पूर्व 'व्याज-बट्टे का निषेध' पुस्तक में उन्होने अपने इन विचारो का परिचय देना आरम्भ किया था। इन्हींका विस्तार और पुनर्रचना सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्र के सन्दर्भ में अव उन्होंने की है। 'सबै भूमि गोपाल की', 'सब सम्पति रघुपति कर आही' यह कहने के पश्चात् व्यक्ति का 'अपनी वचत पर कोई अधिकार न रहेगा और उससे मनुष्य आलसी और उड़ाऊ बनेगा।' 'मैं अधिक काम करूँ, तो मुझे कुछ मिलनेवाला नहीं है और कुछ भी न करूँ, तो भी दूसरो के श्रमो का फल तो मुझे घर बैठे मिलने ही वाला है।' इत्यादि विचार सामान्य मनुष्य के अन्तःकरण में उठे विना नहीं रहते।

'इसलिए मनुष्य को स्वयं कष्ट करके सम्पत्ति जोड़ने का और प्राप्त सम्पत्ति का पूर्ण व्यय करने का पूरा-पूरा अधिकार होना चाहिए। यह अधिकार इतना अबाधित हो कि शोषणरहित धन-संचय पर कोई दीर्घतम मर्यादा न हो और उत्तराधिकार-कर भी न हो। कारण ऐसा करने से 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में बाधा पड़ती है', 'उद्योग और मितव्यय में उत्साह नहीं रहता' और 'छल तथा घूस आदि को अवसर मिलता है।' पर शर्त यह है कि यह धन-संचय 'शोषणरहित' हो। आज की शोषण-युक्त धन-संचय-पद्धति और अप्पाजी द्वारा कल्पित शोषणरहित धन-संचय की पद्धति में निम्नलिखित भेद कल्पित हैं :

१. भूमि का सामुदायिक स्वामित्व

२. व्यक्तिमात्र का श्रमोपार्जित सम्पत्ति और बचत पर अधिकार

३. ब्याज, भाड़ा, डिविडेंड असल की भरपाई के अतिरिक्त अस्वीकार

४. सिक्के का अवमूल्यन।

इस पद्धति से होनेवाली कमाई 'शोषणरहित' समझी जायगी। यहाँ यह बात स्पष्ट करनी होगी कि अप्पाजी की 'श्रम' की कल्पना में बौद्धिक श्रमों का भी समावेश होता है। शारीरिक और बौद्धिक श्रमों का मूल्य यदि श्रममुद्रा-चलन से एक किया जाय, अर्थात् यदि नाई के श्रम का एक घंटा और वकील के श्रम का एक घंटा दोनों का समान बदला दिया जाय, तो इसमें कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। कारण बैरिस्टर का एक घंटा पचीस घंटों के बराबर समझना उचित होगा। प्राथमिक शिक्षक की शिक्षकी का एक घंटा और प्रोफेसर के व्याख्यान का एक घंटा, इन दोनों के मूल्यों में भी अन्तर रखना होगा। इन सब कठिनाइयों के कारण श्रममुद्रा-चलन को ये व्यावहारिक नहीं मानते। इसका

मतलब यह हुआ कि सभी श्रमों को (बौद्धिक और शारीरिक) सम्पत्ति प्राप्त करने का पूरा-पूरा अवसर रहेगा। अर्थात् समाज उसका यथा-उचित नियंत्रण कर सकेगा। सामाजिक निर्बन्ध और नियंत्रण को अप्पाजी अपथ्यकर नहीं समझते। प्रत्युत वे जैसी समाज-रचना चाहते हैं, वह निर्बन्धों के बिना नहीं बन सकती, यह उनका स्पष्ट मत देख पड़ता है।

अर्थात् शोपणरहित धनसंचय से उत्पन्न होनेवाली असमानता और उससे निर्मित होनेवाली आर्थिक और सामाजिक विपमता अप्पाजी को स्वीकार है। यही नहीं, बल्कि मेहनती और प्रयत्नशील समाज का संगोपन करने के लिए इसकी आवश्यकता है; यही उनका सिद्धान्त है और उनकी कल्पना के अनुसार उनका यह विचार भूदान-तत्त्वज्ञान-प्रणीत 'शोपणरहित' समाज-रचना के विपरीत होने के कारण उन्होंने अपना यह मतभेद स्पष्ट रूप से प्रकट कर ही दिया है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इस प्रकार होनेवाली विपमता तात्त्विक दृष्टि से अप्पाजी को स्वीकार है। अपरिग्रह का तत्त्व सर्वश्रेष्ठ है। प्रत्येक मनुष्य के सामने यह ध्येय रूप से होना चाहिए। परन्तु यह 'अनुनय' का विषय है। यह सामाजिक निर्बन्ध से निर्माण करने की चीज नहीं, यही उनकी मान्यता है।

आज की 'शोपणयुक्त' आर्थिक रचना से जो विपमता उत्पन्न हुई है, उसका क्या होगा? इसके लिए अप्पाजी ने 'उदक-शान्ति' की कल्पना सुझायी है, और उसके बाद ही यह सारी व्यवस्था कार्यरूप मे आने को है। अर्थात् किसी निश्चित तारीख को सब लोग अपनी सम्पत्ति का यथाशक्ति अंश स्वेच्छा से दान करेंगे। इसमें किसी पर कोई जोर या दबाव न होगा। दबाव डालना अन्याय होगा। 'आज तक अमीरी का जिन्हे अभ्यास पड़ा हुआ था, जिन्हे हमने आपने ही इस प्रकार रहने दिया, उन्हे

एकाएक नीचे खींचना अन्याय होगा। उन्हें नवीन परिस्थिति से मेल बैठाने का अवसर देना चाहिए। उनके पास जितनी भी सम्पत्ति रह गयी हो, वह विकाररहित सम्पत्ति है; कारण उस सम्पत्ति के वल पर वे दूसरों की कमाई का शोषण न कर सकेंगे। इसके सिवा कालक्रम से वह घटती ही चली जानेवाली है।' अप्पाजी की कल्पना में इस प्रकार का 'शोपणरहित' समाज है।

'सब संपति रघुपति कर आही' इस कल्पना में सारी सम्पत्ति समाज के लिए ही है, यही मुख्य वात है। मनुष्य चाहे कितना भी उद्योगी और बुद्धिमान् हो, वह जंगल में जाकर सम्पत्तिमान् नहीं वन सकता। राविन्सन क्रूसो की तरह कोई केवल अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है। समाज में रहकर ही वह सम्पत्ति निर्माण कर सकता है। सम्पत्ति का अर्थ ही 'जो मेरे पास है और तेरे पास नहीं, पर जिसकी तुझे चाह है,' यही होता है। जो चीज सबके पास समान रूप से है, वह इस अर्थ में सम्पत्ति है ही नहीं। ऐसी सम्पत्ति पर व्यक्ति का नहीं, बल्कि समाज का अधिकार हो, यही कल्पना उपर्युक्त वचन में है। कम्यूनिस्ट तत्त्वज्ञान के अनुसार कम्यूनिज्म का पर्यवसान ऐसी अवस्था है जिसमें हर किसीसे उसकी योग्यता के अनुसार और हर किसीको उसकी आवश्यकता के अनुसार।' (From everybody according to his capacity and to everybody according to his needs) लेना और देना है। उपर्युक्त वचन वैसी अवस्था पर लग सकेगा। समाज का सारा उत्पादन जिस-तिसकी आवश्यकता के अनुसार उसे प्राप्त होगा। उस उत्पादन में हर कोई अपनी शक्तिभर अपना हिस्सा अदा करेगा। ऐसी स्थिति में 'सब संपति रघुपति कर आही' यह सिद्धान्त साकार होगा। परन्तु ऐसी आदर्श स्थिति समाज को प्राप्त हो, इसमें बहुत समय लगेगा। मानव-समाज की वर्तमान मानसिक परिस्थिति में

वैसी आदर्श स्थिति ले आने का प्रयत्न करना, लापरवाही और आलस्य को प्रोत्साहित करना है। रूस और चीन में यह देखा गया कि इससे देश का उत्पादन घटता है और इसलिए यही निश्चय करना पड़ा कि उत्पादन में जो जितना काम करेगा, उसीके हिसाब से उसको मेहनताना दिया जायगा। इसलिए यद्यपि सर्वोदय-अर्थशास्त्र का यह सूत्र है कि 'श्रम का मूल्य से कोई सम्बन्ध नहीं' (दादा धर्माधिकारी कृत 'सर्वोदय-दर्शन'), तथापि *ऐसी आदर्श स्थिति आज के समाज में संभव नहीं दीखती।* इसलिए आज की परिस्थिति मे यही उचित है कि प्रत्येक व्यक्ति को श्रम के अनुसार दाम मिले और साथ ही वह जो कुछ वचत करे, उससे वह पूरा लाभ उठा सके।

शोषणरहित समाजव्यवस्था के लिए अप्पाजी ने जो चार शर्तें रखी हैं उनका पहले विचार करें।

(१) भूमि का सामुदायिक स्वामित्व

भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व से समाज का जो शोषण आज हो रहा है, वह आगे नहीं होगा। इसमें खण्ड लेना, नौकर रखकर खेती कराना इत्यादि बातें आती हैं। भूमिदान में और ग्रामदान में यह विचार ही मुख्य है। यह भी एक-बारगी होनेवाली बात नहीं है, इसमें कुछ समय लगेगा। इस अवधि मे जमीन के मालिक नवीन परिस्थिति के साथ समरस हो सकेंगे। सादी खेती के खेत और सब्जी तरकारी के खेत इन दोनों में फरक भी किया जायगा। वारी के लिए जमीन सुधारने पर मालिक ने जो खर्च किया हो, उसे निकाल लेने की इसमे सुविधा रहेगी।

(२) व्यक्तिमात्र का श्रमोपार्जित सम्पत्ति और बचत पर अधिकार

यह तो मानना ही पड़ेगा कि वर्तमान परिस्थिति मे प्रत्येक

व्यक्ति को यदि उसके श्रम का बदला न दिया गया, तो श्रम कम होगा और उत्पादन घटेगा। इससे यह बात भी आप ही निकलती है कि श्रम के अनुसार मिलनेवाले बदले में से जो कोई जो कुछ बचत करेगा, उस पर उसका पूरा अधिकार होना चाहिए। यहाँ स्वभावतः ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शारीरिक और बौद्धिक श्रमों में जो बहुत बड़ा अन्तर आज विशेषतः भारत जैसे अप्रगत देश में देख पड़ता है, उसके सम्बन्ध में क्या होगा? शोषणरहित-समाज में क्या इसे ऐसा ही जारी रखेंगे? श्रम का सिक्का चलाकर नाई और वकील का घण्टा बराबर कर दोनों को समान ही बदला दिया गया, तो बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी। यह बात आज की परिस्थिति में तो सही है ही, पर प्रत्येक परिवर्तन के लिए भी यही बात है। भूमि के सामुदायिक स्वामित्व तथा ब्याज, भाड़ा और डिविडेंड की (मूलधन के अतिरिक्त) वहीं पर यही बात लगती है। नितान्त आदर्श स्थिति का विचार करें और यह सूत्र मान लें कि समाज को जिस धंधे की जितनी अधिक आवश्यकता है, उसका बदला उसे उतना ही अधिक दिया जाय और इस सूत्र के अनुसार सब धन्धों का बदला निश्चित करें, तो कदाचित् वकील की आवश्यकता नाई जितनी भी न मानी जायगी। आज की संस्कृति और समाज के लोग इस कथन को अतिशयोक्ति समझ सकते हैं। परन्तु वस्तुतः इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। मनुष्य के लिए नाई की आवश्यकता जितनी स्वाभाविक है (कारण निसर्ग के नियमानुसार बाल तो बढ़ा ही करेंगे), उतनी वकील की नहीं। कुछ शहरों में तो कुछ वकीलों की आमदनी से नाइयों के सदन की आमदनी अधिक है, यह भी पता लगाने से मालूम होगा। आदर्श स्थिति वही है, जिसमें समानता अधिकाधिक परिमाण में उत्पन्न हो। नाई के काम का बदला और वकील के काम का बदला दोनों में समानता उत्पन्न

होनी ही चाहिए। इसके बिना शोषणरहित समाज का चित्र पूर्ण रूप से साकार न होगा। यह बात अप्पाजी भी मानेंगे। उन्होंने यहाँ इस प्रकरण को छोड़-सा दिया है। आज के समाज की परिस्थिति मे शोषणरहित समाज की स्थापना के लिए समाज के द्वारा नियंत्रण के बिना मनुष्य को स्वयं ही क्या क्या करना चाहिए, इसीकी उन्होंने चर्चा की है और सरकारी नियंत्रण के बिना कम-से-कम वर्तमान अवस्था में, बौद्धिक और शारीरिक श्रमों की बराबरी तो दूर रही, उसका सबसे बड़ा भेद भी नहीं मिटाया जा सकेगा, यह बात स्पष्ट है। तब तक कम-से-कम भूमि का स्वामित्व, व्याज, डिविडेंड, शोषण की ये मोटी बातें बन्द हो जायँ और मनुष्य अपने प्रयत्न से यह काम कर सकेगा, यही अप्पाजी का वक्तव्य है।

(३) ब्याज, भाडा, डिविडेंड असली भरपाई के परे अस्वीकार

जमीन की बात अलग रखें, तो व्यवहार में आज जो शोषण चल रहा है, उसमे व्यापार और उद्योग से होनेवाले लाभ का विचार छोड़ दें तो, अधिकांश में इन तीनों का समावेश होता है। कोई रकम व्याज पर लगाये अथवा घर उठाये या शेयर खरीदे, तो प्रतिवर्ष घर बैठे ब्याज, भाडा और डिविडेंड के रूप से कुछ आय होती है। जो लोग श्रम करते हैं, उनकी आय में उतनी ही घटी होती है और दूसरों को बिना मेहनत घर बैठे उतनी ही रकम मिल जाती है, इस प्रकार इस व्यवहार मे दोहरा दोष होता है। एक तरफ मेहनत करने की प्रवृत्ति की कमी और दूसरी तरफ निकम्मा बैठकर खाने की आदत की वृद्धि।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि अर्थ-शास्त्र मे व्याज, नफा, भाडा इत्यादि पारिभाषिक शब्दों के बारे में कई प्रमेय हैं। इस विषय में बहुत-से मतभेद भी हैं। किसी

दृष्टि से इन तीनों शब्दों में साम्य है। ऐसे पारिभाषिक शब्द व्यवहार में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। इससे बहुत गड़बड़ी हो सकती है। अप्पाजी का आक्षेप 'स्लीपिंग पार्टनरशिप' अथवा केवल व्याज खाने के धंधे पर है।

इस प्रकार का जो व्याज होता है, उसका मूल अर्थशास्त्र मेंभी स्पष्ट नहीं है। व्याज के संबंध में अलग-अलग वाद हैं। पर यह सही है कि व्याज जितनी प्राचीन पद्धति है, उतनी ही आधुनिक व्यवहार में भी बहुत गहराई तक जमी हुई है। आज का सम्पूर्ण जगत् व्याज की कल्पना पर चल रहा है और इस संबंध में तथाकथित पूँजीवादी और समाजवादी राष्ट्रों में कोई अन्तर नहीं है। हम जो ऋण इंग्लैंड, अमेरिका, इंटरनैशनल बैंक से लेते हैं, उस पर व्याज चढ़ता है। भूमि का वैयक्तिक स्वामित्व अत्यन्त मर्यादित करनेवाला रूस भी व्याज लगाता है। यह भी सुना है कि रूस में व्यक्तिगत बचत पर व्याज पाने की सुविधा है। इतनी गहराई में जमी हुई कल्पना को हम आज उड़ा देना चाहें, तो इस पर अधिक विचार करना होगा।

यह विचार केवल तात्त्विक दृष्टि से या वैयक्तिक दृष्टिकोण के द्वारा करने से काम न चलेगा। तात्त्विक दृष्टि से व्याज का निषेध धार्मिक युगारम्भ से ही है। दूसरों की कठिनाइयों से लाभ उठाना अथवा अनुत्पादक पद्धति से सम्पत्ति उपार्जन करना, ये दोष तो उसमें हैं ही। पर विचार करने की बात यह है कि आज की परिस्थिति में व्याज सम्पूर्ण रूप से बंद किया जाय, तो कुछ व्यक्तियों या देशों के लिए क्या उसके कुछ विपरीत परिणाम हो सकते हैं? यहाँ यह बात स्पष्ट कर लें कि इस समय व्यक्तिगत आचरण क्या होना चाहिए इसका विचार हम नहीं कर रहे हैं। निजी व्यवहार में व्याज लेना ही होगा, इस प्रकार का कोई आग्रह नहीं है। परंतु सरकार यदि कानून से व्याजबंदी करे,

तो उसके कुछ अनिष्ट परिणाम हो सकते हैं या नहीं, इतना ही विचार करना है। पहला प्रश्न यह होता है कि व्याजबंदी से फजूलखर्ची को कुछ प्रोत्साहन तो नहीं मिलेगा? अर्थात् व्याज के आकर्षण से समाज आज जो बचत कर रहा है, उस बचत में क्या कुछ कमी तो नहीं होगी? इस बचत का जो कुछ महत्त्व है उसे यहाँ विस्तार से बतलाने का कुछ काम नहीं है। संक्षेप में इतना ही लिखना आवश्यक है कि भावी विकास-कार्य की सारी प्रगति इस बचत के परिमाण पर अवलंबित है। जिस परिमाण में बचत अधिक होगी, उसी परिमाण में विकास अधिक होगा। समाज आज जो बचत कर रहा है, उसमें मुख्यतः दो आकर्षण हैं—(१) आगे आनेवाली कठिनाइयों के निवारण की व्यवस्था और (२) सम्पत्ति के बढ़ने की आशा। यदि व्याज-बंदी की गयी, तो दूसरा आकर्षण नष्ट होगा और उससे आज की अपेक्षा बचत कम होने की संभावना है। इसके विपरीत व्याज की प्रथा बनी रहे, तो जो लोग कर्ज लेंगे और जिन्हें उसका व्याज देना पड़ेगा, ऐसे उत्पादकों में अनुत्साह और उससे परिश्रम की मात्रा पर होनेवाले अनिष्ट परिणाम, तथा व्याज से निकम्मे बैठकर खाने की वृत्ति बढ़ने से समाज पर होनेवाले अनिष्ट परिणाम, इन दोनों ही बातों का विचार करना होगा।

किसी भी देश में कम आयवाले लोग (लो इनकम ग्रुप) बहुत अधिक और अधिक आयवाले लोग (हाई इनकम ग्रुप) बहुत कम होते हैं। पूर्वोक्त श्रेणी के लोगों से बचत की अधिक अपेक्षा होती है। कारण उनकी संख्या अधिक और व्यक्तिगत बचत इतनी कम होती है कि व्याज से उनके जीवन में निकम्मे बैठकर खाने की वृत्ति का होना बहुत ही कम संभव है। ऐसे लोगों के लिए व्याज का आकर्षण रखा जाय, तो उससे बचत की वृद्धि होगी और बचत करनेवाले व्यक्तियों पर उसके

अनिष्ट परिणाम न होंगे। जिनकी आय अधिक है, उनकी संख्या कम है, उनकी बचत का परिमाण अधिक है, उनके लिए यदि ब्याज की बंदी की जाय अथवा ब्याज की दर बहुत कम की जाय, तो निकम्मे बैठकर खाने की आदत बढ़ने का आक्षेप न रहेगा। इस वर्ग के लोगों को मुख्यतः भावी आवश्यकताओं की पूर्व-व्यवस्था के लिए ही बचत करनी पड़ेगी।

उत्पादकों पर ब्याज की पद्धति से जो अनिष्ट परिणाम होता है, उसका क्या होगा? यह दोष हटाने के लिए दो विचार सामने रखे जा सकते हैं। पहला विचार यह कि उत्पादक को जो रुपया कर्ज दिया जाय, उस पर ब्याज ही न लगे। बचत के लिए आकर्षण के तौर पर ब्याज रखा है। उससे बचत की वृद्धि होगी। कर्ज पर चढ़नेवाला ब्याज अनुत्पादक है, इसलिए उत्पादन पर यदि उसका अनिष्ट परिणाम होता है, तो वहाँ ब्याज बन्द किया जाय और कर्जभर वसूल किया जाय। बढ़ा हुआ उत्पादन बचत के रूप में समाज के पास लौटकर विकास के काम आ ही सकता है। बचत के लिए दिया हुआ ब्याज सरकार सह ले। दूसरा विचार यह कि ब्याज के इष्टानिष्ट परिणाम इस बात पर भी अवलम्बित हो सकते हैं कि ब्याज व्यक्ति-विशेष को मिल रहा है या समाज को। यह संशोधन, प्रयोग और अनुभव का विषय है। यदि यह देख पड़े कि समाज को मिलनेवाले ब्याज का कोई अनिष्ट परिणाम उत्पादन पर नहीं होता, तो समाज के ब्याज लेने में कोई आपत्ति नहीं है। कारण उससे अनिष्ट परिणाम कुछ नहीं होता, बल्कि समाज की सम्पत्ति बढ़ती है।

होने की संभावना का यह दूसरा भाग है। अपनी बचत दूसरों के काम में लगाने की मनुष्य की प्रवृत्ति ही कम होगी। सामान्य मनुष्य यही सोचेगा कि 'मैं अपना रुपया दूसरों को क्यों दूँ? उससे उसकी वृद्धि तो होगी ही नहीं, क्योंकि ब्याज की बंदी है।' इसलिए वह अपनी सम्पत्ति अपने घर मे ही रखना चाहेगा। इस अनिष्ट प्रवृत्ति को हटाने के लिए अप्पाजी ने मुद्रा-ह्रास की कल्पना सामने रखी है। इसमें दूसरा कारण यह भी बताया जा सकता है कि सम्पत्ति जब विनाशशील है, तब उसका प्रतीक अविनाशी क्यो रहे? मुद्रा सम्पत्ति नहीं है। सम्पत्ति वही होती है, जिसका उपयोग किया जा सकता है। ह्रास उसके स्वभाव मे ही है। मुद्रा सम्पत्ति का केवल प्रतीक है। तब उसे भी ह्रासयुक्त क्यों न किया जाय? मुद्रा-ह्रास का एक उद्देश्य व्यावहारिक है, यह कि लोग अपना रुपया-पैसा दूसरों के हित मे लगायें। अप्पाजी की योजना में ऐसे रुपयों को मुद्रा-ह्रास जितनी ही छूट मिलती है। दूसरा उद्देश्य तात्त्विक है।

अर्थशास्त्र मे मुद्रानिर्माण का जो इतिहास है, उससे यह बात सामने आती है कि अविनाशी सम्पत्ति की खोज मे मुद्रा की कल्पना प्रसूत हुई। लेन-देन की सुविधा भी उसमे है, यह दूसरा कारण है। परन्तु लेन-देन का माध्यम यदि अविनाशी हो, तो उससे बहुत लाभ होगा, इस विचार से मुद्रा की कल्पना उद्‌भूत हुई। मुद्रा का मूल्य स्थिर रहे, इसके लिए सुवर्ण का संचय रखना पड़ता है। इसके पीछे भी यही कल्पना है। इस प्रकार मुद्रा-ह्रास की कल्पना ऐतिहासिक क्रम के विरुद्ध प्रतीत होती है। इसके सिवा, इससे कोई प्रत्यक्ष लाभ भी नहीं दीख पड़ता। कारण मुद्रा-ह्रास की पद्धति चलायी गयी, तो लोग सोना, चाँदी, हीरा, मानिक आदि जिन वस्तुओं को ह्रास या अवमूल्यन नहीं ग्रास सकता, उन्हींका संग्रह करेंगे। इससे सम्पत्ति घर मे व्यर्थ

न पड़ी रहे, यह उद्देश्य सफल न होगा। वह व्याज के द्वारा ही सफल होगा, यही देख पड़ता है। अन्यथा मनुष्य रुपया-पैसा और अन्य सम्पत्ति घर में रखकर बैठा रहेगा। आजकल बैंकों की सुविधा अवश्य ही बहुत बड़ी है। इनमें आपका धन सुरक्षित रहता है और पास में जोखिम रखे बिना चेक के द्वारा व्यवहार किया जा सकता है। इससे सम्पत्ति घर में रखने की प्रवृत्ति कम होगी और बैंक में जो सम्पत्ति रहेगी, उसका उपयोग अन्य रूप से समाज को होगा ही। इसके सिवा मुद्रा-ह्रास की कल्पना व्यवहार में लाने के काम में बहुत-सी असुविधाएँ हैं। सिक्कों पर सन-साल के दिनांक देख-देखकर सब व्यवहार करने पड़ेंगे। अवमूल्यन के लिए निश्चित की हुई काल-मर्यादा समाप्त होने के पूर्व ही कम-से-कम कुछ समय तो चलन में उन सिक्कों का मूल्य ही कम माना जायगा। शोषणरहित समाज के निर्माण के लिए इस कल्पना की आवश्यकता ही क्या है, यह समझ में नहीं आता।

यहाँ तक शोषणमुक्ति की जो चार बातें अप्पाजी ने सामने रखीं, उनका विचार हुआ। आज का समाज शोषणमुक्ति के मार्ग पर अपना कदम रखना चाहे, तो क्या करना चाहिए ? एकबारगी ही व्याज, भाड़ा, डिविडेंड बंद कर दिया जाय, तो धनिकों के लिए जीना ही कठिन हो जायगा और आज तक अबाधित रूप से चली आयी हुई परिस्थिति में (जिसके लिए सारा समाज ही जिम्मेवार है) एकबारगी परिवर्तन करना भी संभव और योग्य नहीं है। इसलिए अप्पाजी की यह कल्पना कि मूलधनभर के लिए ही यह जारी रखा जाय और पीछे बन्द किया जाय, योग्य और व्यवहार्य है। कारण पहले अधिक आमदनीवाले लोग जिन्हें हम कह आये हैं, उन्हींकी कोटि में ये सब लोग अधिकांश में आते हैं। आवश्यक जान पड़े, तो किसी विशिष्ट मर्यादा के

ऊपर के संचयों को ही यह नियम लगाया जाय, पर क्रान्ति के मार्ग से परिवर्तन होनेवाला न हो, तो आरंभ में अप्पाजी की सूचना के अनुसार ही करना होगा। पुराना हिसाब जहाँ नहीं फैलाना है, वहाँ मूलधन ही लौटाने का काम है। परंतु ऐसा होने पर आज की-सी समाज रचना न रहेगी। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच व्यवहार का प्रचण्ड नियंत्रण किये बिना व्याज की प्रथा केवल व्याजबन्दी के कानून से बन्द न होगी।

कारण व्याज की उत्पत्ति भी 'डिमाड ऐंड सप्लाई' (माँग और पूर्ति) के आर्थिक न्याय पर ही अन्ततः अवलंबित है। हम चाहे जितनी भी व्याजबन्दी करें, लोगों को अपने दैनंदिन व्यवहार के लिए पूँजी (कैपिटल) की आवश्यकता रहेगी ही। पूँजी की कमी और माँग की अधिकता में से ही व्याज और डिविडेंड का जन्म होता है। मकान, खेत, जगह की कमी और माँग की अधिकता से लाभयुक्त भाड़े का जन्म होता है। ऐसी परिस्थिति में यदि निर्बन्ध के द्वारा यह बंद करना है तो—

(१) व्यक्ति-व्यक्ति के परस्पर व्यवहार ही बन्द करने पड़ेंगे, और

(२) ये सब व्यवहार, सहकारी, नीमसरकारी अथवा सरकारी संस्थाओं की मार्फत चलाने होंगे। अर्थात् व्यक्ति को अपनी सब बचत सहकारी, नीमसरकारी अथवा सरकारी संस्थाओं में रखनी होगी और व्यक्तियों को अथवा संस्थाओं को आवश्यक होनेवाला सब कर्ज इन संस्थाओं की मार्फत लेना होगा।

इतना करके भी इसके सम्बन्ध में काला बाजार उठ ही जायगा, यह नहीं कहा जा सकता। यह सही होने पर भी व्यक्तियों की अपेक्षा संस्थाओं मे काला बाजार की प्रवृत्ति कम ही होगी। फिर भी संस्था चलानेवाले तो व्यक्ति ही होंगे और असलियत

में ही जहाँ माँग अधिक और पूर्ति कम है, वहाँ माँग करनेवालों में से कुछ को देना होगा और कुछ को वराना होगा। इसमें पूर्ति की कुछ संभावना रहेगी अथवा व्यक्ति की यह भावना होगी कि हमारे साथ अन्याय हुआ। व्याज रखने से उस परिमाण में माँग कम होगी और ये सब संभावनाएँ कम होंगी।

व्याजबन्दी करने में ये सब कठिनाइयाँ हैं। और पिछड़े हुए व्यक्तियों और देशों के विकास की दृष्टि से पूँजी की वहुत आवश्यकता है। इस दृष्टि से अप्पाजी ने उधारी के वारे में कुछ अधिक कठोरता के साथ लिखा मालूम होता है। अर्थात् अनुत्पादक भोग के लिए उधारी कुछ और, उत्पादक कार्यों के लिए उधारी कुछ और। परन्तु सारा विकास लागत (इनवेस्ट-मेंट) पर बहुत कुछ आश्रित होने से प्रगति के हेतु क्या व्यक्ति और क्या राष्ट्र, सबके लिए उधारी अनिवार्य है। इस दृष्टि से धनिक-ऋणिक-सम्बन्ध 'पापयुक्त' नहीं है, पूर्व पापों का प्रायश्चित्त करनेवाला पुण्य-सम्बन्ध है। कारण पूर्व शोषण के कारण ही एक धनिक बना है। पुराने पाप की निवृत्ति ही उससे होती है। इस दृष्टि से भारत को अथवा अन्य अप्रगत राष्ट्रों को धनवान राष्ट्रों से मदद (कर्ज या दानरूप में) पाने का नैतिक अधिकार है, यह मानना अनुचित न होगा। अर्थात् उसमें कोई शर्त या बन्धन (स्ट्रिंग) न होना चाहिए।

एक तरफ कर्ज की इतनी आवश्यकता और दूसरी तरफ उसके लिए किसी आकर्षण का न होना, इस तरह की यह समस्या उत्पन्न होनेवाली है। इसलिए इसके अतिरिक्त कोई दूसरी व्यवस्था की जा सकती हो, तो उसका भी विचार करना चाहिए।

'हमने निर्बन्ध, शोषणबन्दीभर के लिए रखे हैं और बचत के लिए छूट रखी है।' इस प्रकार की यह योजना है। पर जिस

समाज मे जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएँ भी बहुत-से लोगों की पूरी नहीं हो पातीं और कुछ थोड़े से लोग ही सुख-चैन से रह सकते हैं, यही नहीं, वल्कि बचत भी कर सकते है, उस समाज मे क्या यह कहा जा सकता है कि शोपण-वन्दी हुई ? अभिप्राय यह है कि शोपणराहित्य के लिए जिन चार वातो की अपेक्षा की जाती है, वे पर्याप्त रूप में नहीं हैं। अर्थात् वे स्वीकृत हो, तब आज जितना शोपण होता है, उतना नवीन समाज मे न होगा, यह स्वीकार है, पर इतने से शोपणवन्दी न होगी। मान लीजिये, शोपणवन्दी की चारों बातें स्वीकृत हुईं और कार्यान्वित हुईं, पर समाज-रचना के भिन्न-भिन्न स्तरों पर आय का बहुत वड़ा अन्तर है। सरकारी नौकरो के वेतन में भी आज की-सी ही परिस्थिति है। वही व्यापार और कारखानो मे है। व्यापार और कारखानों में वड़े कर्मचारियो के वेतन पर जो खर्च होता है, वह उत्पादन के खर्च मे जोड़ा जाता है, इससे व्याज, भाड़ा, डिविडेंड के मदो में वह नहीं आता। इससे समाज मे आज जो विपमता है, वह ऐसी ही वनी रह सकती है। इसलिए शोपणवन्दी की पूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि समाज की ओर से मिलनेवाले भिन्न-भिन्न व्यवसायो के प्रतिफलों मे समानता लायी जाय। ऐसा करना कुछ अंशो में सम्भव है। जिस परिमाण मे वह संभव न हो, उस परिमाण मे आयकर और उत्तराधिकारकर इस हिसाव से लगाना चाहिए कि उससे अपेक्षित समानता आ जाय। यहाँ समानता से गणित की समानता का अर्थ नहीं ग्रहण करना है। व्यवहार में जो समानता वन सकती हो, वही ग्राह्य है।

पर इतने से शोपणरहित समाज की स्थापना न होगी। व्यक्तिगत वचत मंजूर हो, तो भी उसके विनियोग पर नियन्त्रण होना जरूरी है। मेरी वचत से जमीन तो खरीदी जा ही नहीं

सकती, भाड़े पर उठाने के लिए कटरे या दर भी नहीं बनवाये जा सकते। कारण इनसे यद्यपि लागतभर भाड़ा ही वसूल हो सकेगा, तथापि मालिक और भड़ैत जैसा व्यक्तिगत सम्बन्ध व्यवहार में होना ही न चाहिए। इसीमे से पगड़ी अथवा अड़ंगे के अन्य प्रकार निकल पड़ते हैं। इसलिए बचत सीधे बैंक में या सरकारी कर्ज में अथवा ऐसे ही सामूहिक क्षेत्र मे रखनी होगी। इसी प्रकार यदि बचत शेयर के रूप से किसी कारखाने में लगायी जाय, तो डिविडेंड के अधिकार के साथ ही कारखाना चलाने की भी जिम्मेदारी आती है। जिसके पास अधिक शेयर होते हैं, वही कारखाने का मालिक होता है और इससे उस कारखाने में जो चाहे हेरफेर करने का अधिकार प्राप्त होता है। इसकी अपेक्षा व्यक्ति बचत का विनियोग उत्पादन के साधन खरीदने या निर्माण करने में न कर सके, यही उचित है। बचत व्यक्ति की रहेगी। उस बचत से उत्पादन बढ़ाने की जिम्मेदारी समाज की होगी। उत्पादन-वृद्धि के लिए जो कर्ज चाहेगा, वह व्यक्ति से न लेकर समाज से ही लेगा।

विकास की या वृद्धि की जिम्मेदारी किस पर होगी? व्यक्ति पर याने प्रत्येक उत्पादक पर या समाज पर? एक तरह से समाज की जिम्मेदारी प्रत्येक व्यक्ति पर आ ही जायगी, पर व्यक्तिशः आनेवाली जिम्मेदारी का स्वरूप और होगा और संघशः पडनेवाली जिम्मेदारी का स्वरूप कुछ और। अप्पाजी की कल्पना के अनुसार जिम्मेदारी प्रत्येक उत्पादक पर है। इसलिए 'भड़ैत मकान-मालिक को मकान की लागत से अतिरिक्त भाड़ा न दे, पर मकान के साथ वह दो-एक दर अवश्य बनवा दे। बुनाई का कारखाना पूँजी लगानेवाले को असल चुकाने के अतिरिक्त कोई व्याज न दे, पर कुछ करघे और चला दे, यह अप्पाजी का कहना है।' ये दो उदाहरण अलग-अलग विभागों

मे आते हैं। कोई भड़ैत पुराने घर में दर नहीं बनवायेगा। उसके पास यदि पर्याप्त धन हो, तो कदाचित् वह अपने लिए घर ही उठायेगा। कारण दर बनवाकर अपना लाभ क्या करेगा ? उन-पर वह मूलधन जितना ही भाडा वसूल कर सकेगा। तब वह इन्हे बनवाने ही क्यो जायगा ? अपना घर अपने बाल-बच्चों के लिए उठाया जा सकता है, पर दर तो भडैतों के लिए ही होंगे। जिस घर में रहते आये, उसकी लागत मालिक को पूरी मिल चुकने पर उस घर पर मालकियत भडैतों की होगी। अर्थात् उसे नये कटरे या घर उठवाने में कोई आकर्षण न रह जायगा। यही हालत मालिक की होगी। घर उठाने से उसकी पूँजी न बढेगी, कारण ब्याज बंद है। तब विकास कैसे होगा ? पूँजी लगाने मे व्यक्ति के लिए कोई आकर्षण जब न रहेगा, तब वह उसे नहीं लगायेगा। इस तरह ऐसी जिम्मेदारियाँ समाज के ही सिर आ पडेंगी। नये घर उठाने का काम 'हाउसिंग कारपोरेशन' करेगा। उसे व्यक्ति कर्ज देंगे। जहाँ व्यक्तियो को ब्याज की छूट मिलेगी, वहाँ उतनी रकम का हिसाब कारपोरेशन घर की कीमत में ब्याज के तौर पर कर ले सकेगा।

बुनाई के कारखाने की बात अवश्य ही अलग है। बुनाई के कारखाने में अधिक करघे चलाने में आकर्षण है। उत्पादन की वृद्धि से यदि लाभ हुआ, तो बुनकरो को अधिक वेतन के रूप में वह मिल सकेगा। यह चीज शोषणरहित समाज की योजना मे बैठ जाती है। पर कारखाने को पूँजी व्यक्ति नहीं देगा। वह पूँजी वह अपने पास ही रखेगा। पूँजी पूरी करनी होगी सरकार को ही, व्यक्ति से वह नहीं मिलेगी। ऐसी अवस्था में विकास की जिम्मेदारी व्यक्ति पर नहीं, समाज पर रहेगी। उसका निर्वाह समाज की ओर से सरकार या नीमसरकारी संस्था पर रहेगी।

आज का जगत् पैसे के आधार पर खड़ा है। आदिकाल

से सम्पत्ति ही उसका आधार रही है। और इसीसे मानव का विकास भी हुआ। षड्रिपुओं में लोभ के साथ आलस्य (मद) भी है, यह बात भूलनी न चाहिए। निकम्मे रहते भी खाने को मिल जाता था, तो भी मनुष्य ने पशु-पालन, कृषि, उद्योग, यन्त्र, कला इत्यादि साधन ढूँढ निकाले, इसके मूल में सुख-सुविधा की इच्छा ही है। इसलिए सुख-सुविधा की इच्छा मनुष्य की निसर्ग-निमित इच्छा ही समझनी चाहिए। जो लोग आजकल के सुधारों की ओर शंकायुक्त दृष्टि से देखते हैं, उन्हें चाहिए कि इस सम्बन्ध में जो एक दूसरा दृष्टिकोण है, उसका भी विचार करें। ईश्वर की यदि यही इच्छा होती कि मनुष्य स्थिति-सन्तुष्ट रहे (यहाँ स्थिति-सन्तुष्टता और आत्म-सन्तुष्टता में भेद करना होगा), तो उसने आज का शास्त्रीय युग प्रवर्तित करने की बुद्धि ही मनुष्य को न दी होती। एटम-बम से आज हमें जो डर लगता है, वही डर हमें पहले जब बन्दूक या तोप का आविष्कार हुआ, तब वैसा ही लगा होगा। इसलिए आधुनिक सुधारों के सम्बन्ध में ऐसी शंकायुक्त वृत्ति त्यागकर 'नहीं नहीं' की दृष्टि से उनकी ओर न देखकर 'हाँ हाँ' की दृष्टि से देखना चाहिए। समाज जिसे अपने अनुभव से अच्छा जानेगा, उसे रखेगा, जो खराब समझेगा, उसे छोड़ देगा। अनुभव से ही मनुष्य सयाना होगा। आवागमन के साधन यदि बहुत हो गये, तो मनुष्य के पैरों की शक्ति ही नष्ट होगी, इस प्रकार का भी एक आक्षेप किया जाता है। इसका उत्तर यही है कि ऐसा देख पड़ने पर पैरों से काम लेना फिर शुरू कर देंगे। पर अभी से ऐसा सोचना वैसा ही है, जैसा आगे चलकर चूहे घर में बिल बनायेंगे, इसलिए अपना मकान ही न उठाना।

यह कहने का और एक दूसरा भी प्रयोजन है। आक्षेप यह है कि इसी वृत्ति से संसार में लड़ाइयाँ होती हैं। श्री जयप्रकाश नारायण अपने From Socialism to Sarvodaya

में Limitation of wants and Socialism शीर्षक के नीचे (पृ० ३०) लिखते हैं :

"But it would not do here or elsewhere to apotheosise material happiness and encourage an outlook on life that feeds an insatiable hunger for material goods. There can be no peace in the minds and hearts of men, nor peace amongst men, if this hunger gnaws at them continuously.. . In such a restless society violence and war would be endemic.. Equality, freedom, brotherhood would all be in danger of being submerged in a universal flood of materialism."

और इस पर यह उपाय सुझाते हैं :

"The only solution seems to be to restrict as much as possible the need and area of disciplining from above by ensuring that every member of society practises self discipline and the values of socialism, and among other things, willingly shares and cooperates with his fellowmen."

सुख-सुविधा की इच्छा को हम निसर्ग-निर्मित प्रवृत्ति कह आये हैं। उसे मारना सभव है या उससे होनेवाला मानव-मानव मे शोषण बन्द करना सभव है, यही असली प्रश्न है। रेडिओ, घडी, फाउटेनपेन, मोटर आदि की तुम इच्छा ही मत करो, इससे तुम्हारा शोषण ही न होगा, यह एक विचार हुआ। अथवा ये सब चीजे तुम्हारा शोषण हुए बिना तुम्हें मिलें, यह दूसरा विचार

है। इनमें से कौन-सा मार्ग मनुष्य सुलभता के साथ स्वीकार कर सकेगा, इस बात का विचार होना चाहिए। हमारे मत से पहली बात असंभव है, दूसरी प्रयत्न-साध्य है।

आज संसार में सब सुख-सुविधाएँ धन से मिलती हैं। और सुख सुविधाओं की इच्छा निसर्ग-निर्मित होने के कारण मनुष्य धन के पीछे पड़ा है। एक सुभाषित है :

धनैर्निष्कुलाना कुलीना भवन्ति।
धनैरापदो मानवा सन्तरन्ति॥
धनेभ्य परो नास्ति बधु स लोके।
धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम्॥

और इसीलिए सब धन का पीछा कर रहे हैं। इसीसे 'सौदा और अड़गे' का साम्राज्य सारे संसार में फैला हुआ है। हर किसी-को पैसा चाहिए, इसलिए हर कोई उसे प्राप्त करने का अपनी पूरी शक्ति लगाकर प्रयत्न करता है। इससे एक का अभाव दूसरे का अवसर बन जाता है। यही जगत् का सामान्य नियम बन गया है। यह वृत्ति दूर हो और उसके स्थान में प्रेम और सहकारिता कैसे निर्माण हो, यही वास्तविक प्रश्न है। इसके लिए व्यक्ति-व्यक्ति के परस्पर व्यवहार पर समाज का नियत्रण तो आवश्यक होगा ही, पर उसके साथ ही व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताएँ समाज को पूरी करने की जिम्मेदारी उठानी होगी। जिस परिमाण में व्यक्ति के लिए पर्याप्त काम, बुढ़ापे और बीमारी में आवश्यक सुविधा, बच्चों की पढ़ाई इत्यादि आवश्यकताओं की पूर्ति समाज के द्वारा होगी, उसी परिमाण में जीवन-स्पर्द्धा और जीवन-संघर्ष कम होंगे, तथा व्यवहार में शोषण के स्थान में स्नेहयुक्त साहाय्य का वातावरण निर्माण होगा।

यह सब होने के लिए एक नई व्यवस्था आवश्यक है। और जहाँ व्यवस्था की बात आयेगी, वहाँ व्यवस्थापकों की

आवश्यकता होगी। दिन-दिन उनकी संख्या भी बढ़ती जायगी। कम-से-कम आज के जगत् का यही अनुभव है। अर्थात् 'पृथ्वी निःशूद्र' होने के कोई लक्षण तो नहीं देख पड़ते हैं, बल्कि वह अधिकाधिक 'शूद्रत्व' की ओर ही जा रही है, यही कहना पड़ेगा। परन्तु जो लोग व्यवस्थापक हैं, उनकी वृत्ति नौकरी याने शूद्रवृत्ति है, यह कहना कहाँ तक उचित होगा, यह भी विचार करने योग्य है। कारण आधुनिक युग की यही प्रवृत्ति है। मध्ययुगीन स्वावलम्बन के बजाय अर्वाचीन परस्परावलम्बन ही इस युग की प्रवृत्ति है। स्वतन्त्र किसान, स्वतन्त्र दूकानदार, स्वतन्त्र बुनकर के दिन लद गये। यह समितियों, सोसाइटियों का युग है। ग्रामदान के पश्चात् गाँव की व्यवस्था के लिए आज की अपेक्षा अधिक कर्मचारियों की आवश्यकता निश्चय ही होगी। रहन-सहन में विविधता के रहते भी विषमता न हो, इसका अर्थ यह होता है कि प्रत्येक कुटुम्ब की क्रय-शक्ति (Purchasing power) सामान्यतः समान होनी चाहिए। खेतिहर, तेली, बढ़ई, दर्जी, लुहार, चमार, दुकानदार आदि विविध पेशों के लोग एक ही ग्राम-परिवार में होंगे, अर्थात् इस यान्त्रिक युग में इन सबको ग्राम के द्वारा संरक्षण की आवश्यकता होगी, अन्यथा बाटा का जूता चमार को, एक्सपेलर तेली को और मिल बुनकर को खत्म कर देंगे। इसके निवारणार्थ एक विशिष्ट प्रकार की व्यवस्था, संघटन और सहयोग आवश्यक होगा और इसके लिए नौकर-वर्ग का होना जरूरी होगा। अन्य धन्धों की भी यही बात समझनी चाहिए। छोटे-मोटे धन्धे सहकारी समितियों में सम्मिलित हुए बिना टिक नहीं सकेंगे और उन्हें मदद भी करते न बनेगी। उद्योग-धन्धे तो बड़े समूह में ही चल पाते हैं। 'आजकल अधिकांश लोग नौकर और कुछ थोड़े से लोग मालिक हैं, इस प्रकार समाज का यह विभाजन हुआ है।' यह सही है,

पर यह परिस्थिति बहुत काल तक न रहेगी। कारखाने भी साधिक स्वतंत्रतापूर्वक चलेंगे और नौकर और संचालक का भेद न रहेगा। सभी नौकर या सभी चालक होंगे और सब एक-दूसरे की सहकारिता के साथ कारखाने चलायेंगे। मैंने सुना है कि युगोस्लाविया में ऐसी पद्धति से काम हो रहा है।

तात्पर्य, इस प्रकार की नवीन समाज-रचना निर्माण करने के लिए आज की अपेक्षा अधिक व्यवस्था की आवश्यकता और अपेक्षा है। यह काम सरकार की सहानुभूति के बिना संभव नहीं है। पर सरकार इस दृष्टि से आगे कदम उठाने को तैयार नहीं है। ऐसी हालत में क्या करना चाहिए? अप्पाजी ने यह सुझाया है कि 'मजदूर अपनी मेहनत मट्टी के मोल बेचने से इन्कार कर दे। समता की स्थापना के लिए दलित वर्ग में समता की आकांक्षा और स्वाभिमान-वृत्ति जागनी चाहिए।' यह विचार इतिहास के अनुरूप है। अन्य देशों में दलितों का विकास और उद्धार इसी मार्ग से हुआ है। उनमें वर्ग-भावना (Class consciousness) थी। उसीमें से उस वर्ग की स्थिति में सुधार की भावना जागी। पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी वर्ग भावना से वर्ग द्वेष (Class hatred) और वर्ग-संघर्ष (Class struggle) उत्पन्न होते ही हैं अथवा उनका उत्पन्न होना जरूरी है, ऐसी कोई बात नहीं देख पड़ती। मैं यदि भूमिहीन मजदूर हूँ और मजदूरों की स्थिति सुधारने के लिए मैं यदि उनका संघटन करता हूँ, तो भूमि के मालिकों का द्वेष अथवा उनके विरुद्ध संघर्ष की भावना न रखकर भी मैं यह काम कर सकता हूँ। आज कल की विचार पद्धति के अनुसार भूमिहीन रहकर भूमिवानों की जमीन उनके नौकर होकर कमाऊँ, यह न्याय, नीति और मानवता के भी विरुद्ध है, यह बात सर्वसम्मत हो चुकी है। भूमिवान् भी इसे समझते हैं, पर अप्पाजी के कथनानुसार :

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति ।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति ॥

इस प्रकार की उनकी हालत है। इसमें उनका दोष भी नहीं है। दूसरी कोई जीविका प्राप्त हुए बिना वे भूमि पर से अपना अधिकार कैसे हटा लें? इसकी न्याय-विरुद्धता पूर्णरूप से मान लें, तो भी उसे छोडने के लिए कोई पर्याय तो ढूँढना ही होगा। छठा हिस्सा दान करना एक बात है और सारी भूमि का दान करना बिलकुल दूसरी बात है। सामान्य मनुष्य के लिए यह संभव नहीं है। यही नहीं, बल्कि ऐसा मनुष्य जिस परिमाण मे 'अविवेकी' समझा जायगा, उसी परिमाण मे वह नीतिमान् भी समझा जा सकता है। इस गुत्थी को कैसे सुलझाया जाय? 'भूमिहीनो पर भरोसा करके, उन्हें अपना बैंक समझकर, भूमि-दान करो' यह सलाह कितनी भी सही हो, तो भी उसके मूल में मनुष्य-स्वभाव पर जो विश्वास होना चाहिए, वह आज मनुष्यो के व्यवहार मे नहीं है। दूसरा कोई जो कुछ भी करे, हमारा एकतरफा वर्ताव अच्छा हो, इतने से दुनिया बदल जायगी या बदलती है, यह विश्वास आज मनुष्यो में नहीं है। इसीलिए संघ-बद्ध वर्ताव की अपेक्षा है। इसीलिए ऐसे परिवर्तन के हेतु संघ का प्रतिनिधित्व करनेवाली सरकार से सहारे की और सहानुभूति की आवश्यकता है। कोई बात अच्छी हो और अच्छी जँचे, तो भी कुछ बातें ऐसी होती हैं कि वे संघशः ही बन सकती हैं। उसके लिए संघ अथवा संघमान्य संस्था का उसे सहारा मिलना चाहिए और आवश्यकता पडने पर यत्नपूर्वक उसे कार्यान्वित कराने की तैयारी भी रहनी चाहिए। इसीलिए निर्बन्ध के बिना ऐसी बातें होनेवाली नहीं। केवल अनुनय का यह क्षेत्र नहीं है, यही अप्पाजी ने कहा है। अनुनय से और तदनुसार होनेवाले आचरण से एक वातावरण निर्माण हो सकता है। नव समाज

निर्माण करने की इच्छा रखनेवाली सरकार को उससे लाभ उठाना चाहिए।

भूमिहीनों का संघटन करना और अन्याययुक्त पद्धति के विरुद्ध असहयोग में उन्हें प्रवृत्त करना, उन्हें सक्षम बनाने और उनका स्वाभिमान बढ़ाने के लिए आवश्यक है। धर्म क्या है और अधर्म क्या है, इसके विषय में कर्तव्य-पूर्तिक्षम भावना भूमिवानों में नहीं आ सकती। भावना अपनी वृत्ति में आकर स्थिर हो, इसके लिए परिस्थिति का दबाव निर्मित होने की आवश्यकता होती है। वैसा दबाव पैदा हुए बिना समाज नहीं बदला करता। अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध सत्याग्रह, असहयोग और कानून-भंग इन तीनों से अंग्रेजी राज्य के लिए जो प्रतिकूलता उत्पन्न हुई, उसीसे कुछ अंशों में स्वराज्य का लाभ हुआ। 'कुछ अंशों में' इसीलिए कहना पड़ता है कि इस पद्धति से परिस्थिति का दबाव हम इतना नहीं पैदा कर सके कि उतने से अंग्रेज हमें स्वराज्य देने को मजबूर हुए हों। पर इन उपायों से परकीय राज्य के विषय में तिरस्कार और स्वराज्य के विषय में आकांक्षा का निर्माण हुआ।

भूमिहीनों में भूमि के लिए आकांक्षा अभी पैदा ही नहीं हुई और आज की परिस्थिति का तिरस्कार भी उनके चित्त में अभी तक नहीं उत्पन्न हुआ। हमारा यह कथन अवश्य ही सापेक्ष है। ये दोनों बातें होने के लिए भूमिहीनों और छोटे-छोटे खेतिहरों का संघटन निर्माण करना होगा। उनमें स्वाभिमान जगाना होगा। अभी की यह प्रथा अन्याययुक्त है और उसे बन्द करना न्याय्य है, यह विचार उन्हें जँचाकर इसका आचरण उनसे करा लेना होगा। वर्तमान पद्धति से काम करना अस्वीकार करना भी न्याय्य है। भूक्रान्ति का अगला कदम इसे समझना चाहिए। इसीसे नयी परिस्थिति उत्पन्न होगी और सरकार तथा जमींदार

दोनों पक्षों को भूक्रान्ति की अनिवार्यता जँचेगी और अगले कदम उठाये जायँगे। यह सब भूमिवानों के व्यक्ति-द्वेष के बिना किया जा सकता है। भूमिवानों की पद्धति का द्वेष अवश्य ही करना होगा। कारण वह पद्धति दोषयुक्त है। बुराई का द्वेष किये बिना उसका निवारण कैसे होगा ?

'सब सम्पति रघुपति कर आही' यह विचार क्या है ? सम्पत्ति समाज की निर्मिति है। उस पर कोई व्यक्ति अपना स्वामित्व बतलाये, यह असत्य और हास्यास्पद है। तथापि इस मूलभूत सत्य का आचरण, अपने इस भेदग्रस्त दैनन्दिन जीवन में करते हुए 'मेरा-तेरा' ये भेद भी करने ही पडते हैं, यह अप्पाजी का कहना है। यह पढकर दो प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनकी चर्चा करना आवश्यक है। पहला प्रश्न यह कि यदि ऐसी बात है, तो सर्वोदय का क्या होगा ? वह कब, कहाँ और कैसे उदित होगा ? दूसरा प्रश्न यह कि भारत का विकासक्रम जगत् के आज तक के आर्थिक और सामाजिक इतिहास के अनुरूप होगा या किसी अन्य पद्धति या तत्त्व के अनुसार होगा ?

सर्वोदय जीवन का एक दृष्टिकोण है। सत्य, प्रेम, करुणा जगत् के शाश्वत मूल्य हैं, उन्हीं पर आश्रित यह जीवन-दृष्टि है। इसे आचरण में लाते हुए आज के मानव के लिए क्या सम्भव और क्या असम्भव है, इसका विचार करना होगा और तदनुसार स्थान-स्थान पर तथा बार-बार उसे मोडना होगा। जयप्रकाशजी के वक्तव्य का जो अवतरण पहले दे चुके हैं, उसकी सगति भी इसी प्रकार लगानी होगी।

इस जगत् में एक समय ऐसा आयेगा कि मानव स्थिति-सन्तुष्ट होकर रहेगा। तब राष्ट्रवाद न रहेगा। व्यक्ति-व्यक्ति में ही समता नहीं, राष्ट्र-राष्ट्र में भी समता रहेगी। जयप्रकाशजी उपर्युक्त पुस्तक में ही लिखते हैं :

"The fear is often expressed if self reliant and self governing communities will hold together and the unity and integrity of the nation will abide In a Sarvodaya world order the present nation States have no place. The Sarvodaya view is a world view, and the individual standing at the centre of Gandhiji's oceanic circle is a world citizen " कोई भी नहीं कह सकता कि ऐसा होना आज सम्भव है। पर सभी यह स्वीकार करेंगे कि जीवन का ऐसा दृष्टिकोण होना चाहिए। न हो तो मानव की उन्नति नहीं हो सकती।

इस प्रकार सर्वोदय का दृष्टिकोण जीवन के शाश्वत मूल्यों पर टिका हुआ आदर्शवादी दृष्टिकोण है। जिन्हें उसे अपने जीवन में लाना है, उन्हें अपनी व्यक्तिगत मर्यादा को रखते हुए ही ले आना है। यही बात राष्ट्र की भी है। राष्ट्र को अहिंसाव्रत की दीक्षा देनेवाले महात्मा का राजकीय शिष्य कश्मीर में फौजें लाकर युद्ध करता और फौज पर इतना खर्च करता है, इसका भी यही कारण है। इसकी संगति भी इसी प्रकार लगानी चाहिए कि यदि यह दृष्टिकोण न होता, तो परिस्थिति इससे खराब हुई होती। कुछ लोग ऐसी शंका कर सकते हैं कि यह केवल एक तरह का पाखण्ड है। इसके लिए आज कोई उत्तर हमारे पास नहीं है।

ग्रामदान और भू-दान-आन्दोलन के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहना पडेगा। 'मेरा और तेरा' इस भेद के रहते हुए आप ग्रामदान की बात कैसे करते हैं? इसका उत्तर 'भूमि और अन्य सम्पत्ति में जो अन्तर है, वह दिखाकर अप्पाजी ने दिया है। पर वह अपूर्ण है। कारण 'सब सम्पति रघुपति कर आही'' परन्तु मनुष्य की प्रगति की आज की परिस्थिति में जो कुछ

सम्भव है, वह इतना ही है, यही अप्पाजी मानते हैं। यही नहीं, वल्कि समाज-स्वास्थ्य की दृष्टि से इसकी आवश्यकता भी है। इसके विना अपने मूलभूत प्रश्न हल नहीं हो सकते।

इस दृष्टि से मानव-जीवन में सर्वोदय का ध्रुव स्थान है। आदर्श की ओर जाने का प्रयत्न सदा ही रहेगा। पर आदर्श जिस प्रकार अलभ्य है, उसी प्रकार उसकी भी परिस्थिति होगी। जैसे 'निर्बन्ध और अनुनय के स्थान मानवी जीवन में स्थायी हैं, तो भी कल के निर्बन्ध को आज अनुनय का स्थान प्राप्त होगा। निर्बन्ध अभ्यस्त हो जाने पर स्वाभाविक हो जाता है। इसी रीति से मानव का विकास आदर्श की ओर होता रहेगा।

सर्वोदय के इस प्रयत्न में सम्भव है कि कुछ नये विचार और आचार आविष्कृत हों। उदाहरणार्थ, संसदीय लोकसत्ता के कार्यकाल में सत्तानिरपेक्ष और पक्षमुक्त जन-सेवकत्व की भूमिका। आज लोकतन्त्र के सामने जो महान् प्रश्न है कि जनमन को उत्साहित कर विकास के कार्यक्रम में जनशक्ति कैसे जोडी जाय, यह प्रश्न ऐसी ही किसी कल्पना को कार्यान्वित करने से कदाचित् हल हो सकेगा। यदि लोकतन्त्र के लिए पक्षों की आवश्यकता ही हो, तो एक-दूसरे को मार गिराने में बहुत-सा पक्षबल खर्च होगा ही। ऐसी परिस्थिति में तुल्यबल पक्षों को जनता के अर्धांश का सहकार्य प्राप्त होगा। तब सम्पूर्ण जन-शक्ति का उपयोग विकास-कार्य में कैसे हो सकता है?

इसी प्रकार विकेंद्रीकरण के प्रयत्न और आग्रह से अन्य राष्ट्रों में औद्योगीकरण के द्वारा जो अनर्थ और आपदाएँ उत्पन्न हुईं, उनका भी अंशतः निवारण किया जा सकेगा। परन्तु आधुनिक विकास की जो मूलभूत परम्परा है, उससे अलग हम कोई नवीन दृश्य उपस्थित कर सकेंगे, ऐसे कोई लक्षण कम-से-कम आज तो नहीं दीखते। धीरे-धीरे खेती से जीविका चलानेवालों

की संख्या का कम होना, उसी परिमाण में अन्य उद्योगों में लगनेवालों की संख्या का बढ़ना, लोहा, फौलाद और उनके विविध उद्योगों, यांत्रिकीकरण और नगरों में जनसंख्या की वृद्धि, यही जगत् के आर्थिक विकास का चित्र है। वही भारत में चित्रित होगा।

'सर्वोदय का विचार जागतिक विचार है,' यह जो श्री जयप्रकाशजी का कथन है, उसीके अनुसार यह विचार-सरणी है। आज तक जगत् जिस प्रकार आगे बढ़ा है, उसका परिणाम हमारे देश की विकास-दिशा पर निश्चय ही पड़ेगा। उससे हम लोग अलग नहीं रह सकते। उसी प्रकार हम लोग इस देश में जो कुछ सफल करके दिखा सकेंगे, उसका भी परिणाम जगत् के अन्य राष्ट्रों पर होगा। इस प्रकार शास्त्रीय प्रगति का आज जो स्तर है, उसी पर स्थित रहकर हमें आर्थिक विकास का नियोजन करना होगा। इसमें औद्योगीकरण और केंद्रित उद्योग-धन्धों (Centralised industries) का समावेश होता है। विकेंद्रीकरण की दृष्टि से जैसे-जैसे शास्त्रीय प्रगति होगी, वैसे-वैसे उससे काम लिया जा सकेगा। पर तब तक औद्योगीकरण को रोक रखना उचित न होगा।

रा० कृ० पाटील